# माण्डूक्योपनिषद्विज्ञानभाष्य

पं० मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिक

प्रकाशक :
**राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,**
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर ।

# माण्डूक्योपनिषद्विज्ञानभाष्य


**पं० मोतीलाल शास्त्री**

वेदवीथीपथिक



आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्

राजस्थान वैदिक तत्व शोध संस्थान

मानवाश्रम विद्यापीठ, जयपुर-११



राजस्थान पत्रिका प्राइवेट लिमिटेड

संशोधित मूल्य 10=00

जयपुर (राज०)


मूल्य : दस रुपये मात्र

प्रकाशक :

राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।

© सर्वाधिकार लेखकाधीन

ग्रन्थ-प्राप्ति :

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोध-संस्थान,
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर-१८

मुद्रक :

श्री बालचन्द्र यन्त्रालय,
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर-१८

वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल शास्त्री

त्रिस्थानं च त्रिमात्रं च त्रिब्रह्म च त्रयाक्षरम् ।
त्रिमात्रमर्द्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित् ।।

(ध्यानबिन्दूपनिषत्-३६)

त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम् ।।
तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम् ।

(योगतत्त्वोपनिषत्-१३५-१३६)

# अथ माण्डूक्योपनिषत्

## ओंकार द्वारा—चतुष्पात्प्रज्ञान-ब्रह्म का निरूपण

## 'प्रज्ञानोंकारनिरूपणपरेयमुपनिषत्'

| | | | |
|---|---|---|---|
| अध्यक्षरम् | | अधिमात्रमोंकारः | |
| प्रज्ञानाक्षरम् | | १ ओंकारः—अर्द्धमात्रा = | |
| प्राज्ञ | | २ मकारः | |
| तैजसः | —पादाः | ३ उकारः | —मात्राः |
| वैश्वानरः | | ४ अकारः | |
| परब्रह्म— | | शब्दब्रह्म— | |

**ओ३म्**

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥१॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥२॥

# अथ–माण्डूक्य-विज्ञानम्

## भोक्तात्म द्वारा अक्षरपुरुष-निरूपणम्

पाङ्क्त (पञ्चावयव) प्रजापति की अनुकम्पा से ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक नाम से प्रसिद्ध—पाँच उपनिषदों का विज्ञान विज्ञान-प्रेमियों के सामने हम रखने में समर्थ हो सके हैं । उसी प्रजापति की प्रेरणा से आज हम माण्डूक्य-विज्ञान आपके समक्ष उपस्थित कर रहे हैं । आशा है—इसे देख कर प्रेमी पाठक आगे के उपनिषदर्थों के लिए हमें प्रोत्साहित करेंगे । जिस माण्डूक्य का आज हम निरूपण करने वाले हैं, वह व्याख्याताओं का प्रधान स्तम्भ है । यह उपनिषद् और सभी उपनिषदों की अपेक्षा छोटी है । ऐसा होने पर भी भगवान् शंकराचार्य ने इस पर औरों की अपेक्षा विस्तृत भाष्य किया है । स्वनामधन्य शंकर के गुरु के गुरु गौड़पादाचार्य ने इस पर विस्तृत कारिका लिखी है एवं उस कारिका पर भी शांकर-भाष्य है । इस प्रकार इन सारे प्रपञ्चों से यह अल्पकाय ग्रन्थ महाकाय बन गया है । यथार्थ में बात ऐसी ही है । इस उपनिषत् पर जितना लिखा जाए थोड़ा है । ऋषि ने थोड़े से अक्षरों में सारी आत्मविद्या का निरूपण कर दिया है । न केवल आत्मविद्या का ही–अपितु, साथ ही साथ–विश्व का स्वरूप भी हमारे सामने रख दिया है । आज इसी विश्वविशिष्ट आत्मनिरूपक माण्डूक्य को हिन्दी-जगत् के सामने उपस्थित किया जाता है ।

उपनिषदर्थ की संगति के लिए पहले कुछ बाहरी बातों का जान लेना आवश्यक होगा—क्यों कि बिना बाहरी बातें जाने इसका अर्थ समझ लेना कठिन ही नहीं अपितु, असम्भव हो जाता है ।

सृष्टि का मूल क्या है ? उत्तर है[१]—'आनन्द-विज्ञानघन-मनोमय

---

१. आनन्दश्च विज्ञानं च आनन्दविज्ञाने । तद्घनं आनन्दविज्ञानघनं तद्युक्तं यन्मनस्तद्–आनन्दविज्ञानघनं मनः । तन्मयः प्राणः । तद्गर्भितावाक्—'आनन्द-विज्ञानघन-मनोमय-प्राण-गर्भिता वाक्' । सैषा सृष्टिमूला वाक् ।

प्राणगर्भिता वाक्' है । वाक्, सृष्टि का प्रधान अधिष्ठान है । संम्पूर्ण विश्व को अपने उपस्थ (धरातल) में रखने वाली यही वाक् है । वाक् के भीतर प्राण है । प्राण के भीतर मन है । मन के भीतर विज्ञान है । आनन्द सर्वान्तरतम है । इन पाँचों में आनन्द-विज्ञान सहकारी हैं—गौण कारण हैं । मन, प्राण, वाक् प्रधान हैं—मुख्य कारण हैं । मुक्ति का मूल क्या है ? इसका उत्तर है—'वाक्-प्राण-मनोमय-विज्ञानगर्भित आनन्द' । मुक्ति में मन, प्राण, वाक् सहकारी हैं—गौण हैं । विज्ञानानन्द प्रधान हैं—मुख्य कारण हैं । सृष्टिमार्ग संचर है । मुक्तिमार्ग प्रतिसंचर है । संचर विज्ञानमार्ग है । प्रतिसंचर ज्ञानमार्ग है । 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'[१] यह सृष्टिरूप विज्ञान-मार्ग है । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[२] यह मुक्तिरूप ज्ञानमार्ग है । एक से अनेक की ओर जाना विज्ञान है, यही सृष्टि है । अनेक से एक की ओर आना ज्ञान है । यही मुक्ति है । ज्ञान विज्ञान के बिना अधूरा है । विज्ञान, बिना ज्ञान के अधूरा है । दोनों के समन्वय से ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान होता है । क्यों कि वह (ब्रह्म) ज्ञानविज्ञानात्मक है, जब तक भारतवर्ष विज्ञानयुक्त ज्ञान का उपासक था तब तक यह पूर्ण उन्नत था । परन्तु जबसे इसने कतिपय व्याख्याताओं के वाग्जाल में फँस कर विज्ञान की उपेक्षा कर केवल ज्ञान की शरण ले ली तभी से इसका अधःपतन होने लग गया । ज्ञान का आलम्बन विज्ञान है । उसकी इसने उपेक्षा की, अतएव आज यह न इधर का रहा न उधर का । जिस भूल ने उन्नति के शिखर पर पहुँचने वाले भारत की आज यह दुरवस्था कर दी है—उन्नति का घण्टाघोष करने वाला आज का पाश्चात्य जगत् भी उसी भूल में पड़ रहा है । अन्तर केवल क्रम-व्यत्यास मात्र में है । इन लोगों ने (भारतीयों ने) विज्ञान का तिरस्कार किया । दूसरे शब्दों में सांसारिक-विज्ञान का तिरस्कार कर केवल आत्म-ज्ञान को प्रधान माना । उधर पश्चिम के लोग ज्ञान का तिरस्कार कर केवल विज्ञान के उपासक बन रहे हैं । इनकी दृष्टि में आत्म-ज्ञान कोई वस्तु नहीं है । भौतिक विज्ञान ही इनका आराध्यदेव है । परन्तु ध्यान रहे—यही भूल किसी दिन—इन पाश्चात्यों का पलड़ा उलट देगी । कल्याण दोनों की उपासना में है । कोरा ज्ञान भी कुछ नहीं । कोरा विज्ञान भी कुछ नहीं । दोनों की समष्टि कल्याण का कारण है । इसी ज्ञानविज्ञान की उपयोगिता बतलाते हुए भगवान् कहते हैं :—

> "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
> यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते" ।।[3]

---

१. नरसिंह उ. उप. ७ । २. छा. उप. ३।१४१ । ३. गीता ७।२ ।

बस, इन्हीं सब कारणों को लक्ष्य में रख कर—ज्ञानप्रधान उपनिषदों में हम विज्ञान को स्थान देने का साहस कर डालते हैं। इसीलिए—इस उपनिषद् के अर्थ का प्रारम्भ हम—'सृष्टि का क्या मूल है ?' इन अक्षरों से करते हैं। सृष्टि का क्या मूल है ? इसका उत्तर पूर्व में दिया जा चुका है। वहाँ यह भी बतलाया जा चुका है कि आनन्दविज्ञान सहकारी मात्र हैं। सृष्टि में प्रधानता मन, प्राण, वाक् की ही है। इसलिए इन तीन की ओर ही विशेष रूप से आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

मन, प्राण, वाक्, ये तीनों तत्त्व क्रमशः अखण्ड, खण्डाखण्ड, सखण्ड हैं। मन सर्वथा अखण्ड है। परन्तु इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ जिस मन को हम अखण्ड बतला रहे हैं, वह अव्यय का श्वोवसीय नाम से प्रसिद्ध मन है। इस मन का चाहे वाक् से सम्बन्ध हो या न हो, यह उभयथा अखण्ड ही है एवं प्राण-तत्त्व शुद्धरूप से अखण्ड है। परन्तु सखण्ड वाक्तत्त्व से युक्त हो कर यह सखण्ड बन जाता है, अतएव इसे हम 'खण्डाखण्ड' कहने के लिए तय्यार हैं। तीसरा है—वाक्-तत्त्व [पञ्चभूतात्मक उपादान की वैदिक संज्ञा वाच है।] वाक् तत्त्व सर्वथा सखण्ड ही है। इसी की सखण्डता सृष्टि का बीज बनती है। सृष्टि नानाभावापन्न है। यह नानाभावापन्ना सृष्टि उसी नानाभावापन्ना वाक् से होती है। मन-प्राण भी आनन्द-विज्ञान की तरह एक प्रकार से सहकारी ही हैं। उपादान तो केवल वाक् ही है। क्यों कि सखण्ड सृष्टि का उपादान सखण्डा वाक् ही हो सकती है। इसी वाक्-प्रधानता को लक्ष्य में रख कर 'अथो वागेवेदं सर्वम्'[1]—'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'[2]—इत्यादि कहा जाता है। परन्तु 'तत्तु समन्वयात्' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार बिना मनः प्राणवाक् के समन्वय के सृष्टि नहीं हो सकती, अतएव 'सृष्टिः किंमूला' ? इस प्रश्न का 'मनोमयी प्राणगर्भिता वाक्मूला सृष्टिः'—यह उत्तर दिया जाता है। मन, बिना विज्ञान के नहीं रह सकता, विज्ञान बिना आनन्द के अनुपपन्न है। इस प्रकार सृष्टि के उपादानभूत वाक्तत्त्व के साथ—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, इन चार सहकारियों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। ऐसी अवस्था में अन्ततोगत्वा उसी पूर्वोक्त—'आनन्द-विज्ञानघनमनोमयप्राणगर्भिता वाक्—सृष्टिमूला, इस लक्षण पर विश्राम मानना पड़ता है।

मन में से कामना का उदय होता है। कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में ही 'प्राण-व्यापार' हो पड़ता है। प्राण-व्यापार से शान्त स्थिर वाक्-समुद्र में

---

१. नरसिंहोत्तर उप. ८। २. तै. ब्रा. २।८।८।४।

हलचल पैदा हो जाती है। बस, यही हलचल वाक् को सृष्टि-रूप में परिणत करती है। प्राणसम्बन्ध के तारतम्य से उस वाक्समुद्र में कम्प और चिति, दो प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। कम्प से शब्द-सृष्टि होती है। चिति से अर्थ-सृष्टि होती है। शब्द-अर्थ दोनों का उपादान वही वाक् है, अतएव शब्द-ज्ञान से अर्थ-ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है एवं अर्थब्रह्म से शब्द-ज्ञान हो जाता है। वाक्-समुद्र भरा है। प्राण का धक्का लगता है। उसमें वीची पैदा होती है। वह हमारे कान पर धक्का लगाती है। वहाँ बैठी हुई प्रज्ञा उसे पकड़ लेती है। बस, प्रज्ञा-रूप इन्द्र से बद्ध तरङ्गों में परिणत वाक्-खण्ड ही--क-च-ट-त-प-आदि वर्णों की जननी बनती है। यह तो हुई कम्प-कथा। यदि प्राण का प्रबल आघात होता है तो दो वाक्-खण्ड या अनेक खण्ड परस्पर मिल जाते हैं। यह मिलना पाँच प्रकार से होता है।

यह पाँच ही सम्बन्ध विज्ञानजगत् में--१ अन्तर्य्याम, २ बहिर्य्याम, ३ उपयाम, ४ यातयाम, ५ उद्याम, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। जल को तरल बनाने वाला, अपनी उष्णता खो कर जल का आत्मा बनाने वाला अग्नि, अन्तर्य्याम सम्बन्ध से पानी में प्रविष्ट है। गरम पानी में घुसा हुआ अग्नि--बहिर्य्याम सम्बन्ध से सम्बन्ध रखता है। पात्र में रक्खा हुआ अग्नि उपयाम सम्बन्ध के अन्तर्गत है। पात्र से उछट कर गिरे हुए अग्नि का उस पात्र के साथ यातयाम सम्बन्ध है। चारों सम्बन्धों से स्वतन्त्र अलग प्रतिष्ठित अग्नि--पानी, पात्रादि की अपेक्षा से 'उद्याम' बन रहा है। इन पाँचों सम्बन्धों में सृष्टि केवल अन्तर्य्याम-सम्बन्ध पर निर्भर है। अन्तर्य्याम-सम्बन्ध में ही चिति होती है। चिति में दो वस्तुओं का रासायनिक संयोग होता है। इससे दोनों का स्वरूप मारा जाता है एवं दोनों के मिथुन से एक विजातीय तीसरी वस्तु उत्पन्न हो जाती है। पूर्व के प्रकरणों में हमने अव्यय को आलम्बन बतलाया था। यहाँ उसी के वाक्भाग को उपादान बतलाया जाता है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए।

सृष्टिमूला वाक्--स्वयम्भू की वाक् है। यह उसी अव्यय वाक् का विकास मात्र है। मुण्डकोपनिषत् के--'द्वा सुपर्णा०' का अर्थ करते समय यह बडे विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है कि अव्यय-वाक् स्वयम्भू में प्रादुर्भूत होती है। यही स्वयम्भू-वाक्--'स्वायम्भुवी, अनादिनिधना, सत्या, वेद' आदि नामों से प्रसिद्ध है। इस वेदवाक् के ऋग्-यजुः-साम-ये तीन भेद हैं। तीनों में ऋक्साम स्वतन्त्र हैं। यजुः में यत् और जू-ये-थे दो भाग है। इनमें यत् भाग प्राण है, जू भाग वाक् है। इसी वाक्भाग से प्राणव्यापार द्वारा--'सोऽपोऽसृजत। वाच एव

लोकात्'[1] के अनुसार पानी पैदा होता है। वही आपोमय परमेष्ठी कहलाता है। वही स्वायम्भुवी वाक्—आप्-रूप में परिणत हो कर भार्गवी, आंगिरसी दो नाम धारण कर लेती है; 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्'[2] के अनुसार पारमेष्ठ्य आप् भृग्वङ्गिरात्मक है। भृगु सोम है। अङ्गिरा अग्नि है। दोनों आपोमय हैं, एक जातीयतत्त्व हैं। दोनों में भृगुधारा सौम्या वाक् है। अंगिराधारा आग्नेयी वाक् है। सौम्या वाक् आम्भृणी[3] कहलाती है। यही अर्थ-सृष्टि की जननी है। आग्नेयी-वाक् 'सरस्वती' कहलाती है। यही शब्दसृष्टि की जननी है। सरस्वान् नाम का वाक्समुद्र है। वही वीचीतरंग न्याय से——शब्दजननी बनती हुई—— 'सरस्वती' नाम धारण कर लेती है। इस प्रकार शब्दार्थसृष्टि का समानोपादानत्व भली-भाँति सिद्ध हो जाता है।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश पाँचों अर्थ शब्दमय हैं। दोनों की अभिन्नता का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है? इस प्रपञ्च से बतलाना यही है कि अव्ययवाक् आलम्बनमात्र है। उपादान स्वायम्भुवी सत्यावाक्-गर्भिता—पारमेष्ठ्यापोमयी वाक् ही उपादान है। इसी को (ब्रह्मसुब्रह्मसमष्टि को) हमने शुक्र कहा है। शुक्र को ही सृष्टि का उपादान बतलाया है। परन्तु इतना होने पर भी इस वाक्प्रपञ्च का आधार वही अव्यय की वाक् है। बिना उसके यह अनुपपन्न है। इसी अभिन्नता को लक्ष्य में रख कर हम उसे उपादान कह दिया करते हैं। जिसके लिए——प्रातिस्विक शुद्धरूप को लक्ष्य में रख कर——

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते; न करोति न लिप्यते'——इत्यादि कहा जाता है। प्रकृतिरूपा वाक् के अविनाभाव को लक्ष्य में रख कर उसी के लिए——

**"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।**
**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" ॥[4]**

यह कहा जाता है। दृष्टिभेद से वह आलम्बन है——उपादान भी है—— निमित्त भी है। अस्तु, प्रकृत से सम्बन्ध रखने वाला अंश केवल इतना ही है कि, आनन्दविज्ञानघनमनोमयप्राणगर्भिता वाक् सृष्टि का उपादान है। इनमें प्राणव्यापार से वाक् में यदि कम्प होता है तो इससे शब्द-सृष्टि होती है। यदि—अन्तर्य्याम

---

१. शत० ब्रा० ६।१।१।६।            २. गोपाथ ब्रा० पू० १।३६।

३. आम्भृणी-वाक् अर्थरूप से विश्वभुवनों में व्याप्त है। देखिए ऋग्वेद १०।१२५ आम्भृणी सूक्त।            ४. गीता ७।७।

नाम से प्रसिद्ध खण्ड खण्ड रूप में परिणत विजातीयवाकों का रासायनिक संयोग होता है, तो अर्थ-सृष्टि होती है। दोनों में से एक का ज्ञान दूसरे की प्राप्ति में सहायक बन जाता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहते हैं--

**"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।**
**शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति" ।।[१]**

शब्दब्रह्म और परब्रह्म दोनों में से--शब्दब्रह्म को छोड़ दीजिए। केवल परब्रह्म पर दृष्टि डालिए। इस परब्रह्म के--धर्म्मशून्य और धर्म्मयुक्त ये दो भेद हो जाते हैं। धर्म्मशून्य-ब्रह्म शास्त्रों में--'निरञ्जन' 'निष्कल' 'द्वन्द्वातीत' 'अखण्ड' 'निर्धर्म्मक' 'अशेषभेदशून्य' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। शुद्ध रस का नाम ही निर्विशेष-निर्धर्म्मक ब्रह्म है। यह ब्रह्म सर्वथा शास्त्रानधिकृत है। दूसरा है--सर्वधर्म्मोपपन्न। इस सर्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म के--विश्व, विश्वचर, विश्वातीत ये तीन भेद हैं। परात्पर का नाम ही अभय ब्रह्म है। सर्वबलविशिष्ट होने से ही यह परात्पर 'सर्वधर्म्मोपपन्न' कहलाता है। चूंकि यह विश्वातीत होने से अवाङ्मनसगोचर है, अतएव यह भी निर्विशेषवत् शास्त्रानधिकृत ही है। षोडशी पुरुष का नाम 'विश्वचर' ब्रह्म है एवं--स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा पृथिवी इन पाँचों प्राकृतात्माओं की समष्टि का नाम 'विश्व' है। ससीमतया विश्व और विश्वचर ब्रह्म शास्त्राधिकृत हैं। इस प्रकार--'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' के अनुसार एक ही ब्रह्म के (१) निर्विशेष, (२) परात्पर, (३) षोडशी, (४) विश्व, ये चार अविकृत परिणाम हो जाते हैं। इन चारों में पूर्व के दो को तो बिल्कुल छोड़ दीजिए। शास्त्र इन दो का स्पर्श भी नहीं कर सकता। क्यों कि शब्द की यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में शक्ति होती है। वे पदार्थातीत हैं। शब्द-अर्थ-इन दोनों-सृष्टियों से बाहर हैं, अतः वहाँ शब्द की गति नहीं है। इसीलिए उपनिषदों को--स्मृतियों को--

**"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।**
**अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।[२]**
**यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।[३]**
**स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्यविषयः" ।।[४]**

१. मैत्रा उप० ६।२२।　　२. केन उप० २।३।
३. तै० उप० २।४।१।　　४. महिम्न स्तोत्र २।

—इत्यादि रूप से स्पष्ट ही उनकी अविज्ञेयता का धन्यघोष करना पड़ता है। बाकी बचते हैं—विश्वचर और विश्व। इन दोनों का शास्त्रों में खूब ही प्रतिपादन है। ११३१ संहिताएँ, इतने ही ब्राह्मण, विश्व-ब्रह्म का निरूपण करते हैं। एवं ११३१ आरण्यक और ११३१ उपनिषत् विश्वचर-ब्रह्म का निरूपण करते हैं। विश्व और विश्वात्मा अविनाभूत हैं। 'तत्सृष्टा तदेवानुप्राविशत्'[१] के अनुसार प्रविष्ट-आत्मा सृष्ट-विश्व के भीतर प्रविष्ट रहता है, अतएव—विश्व-ब्रह्म प्रतिपादक संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थों का आत्मा के ऊपर लक्ष्य रखना पड़ता है, एवं प्रविष्ट-ब्रह्म प्रतिपादक आरण्यक, उपनिषद् ग्रन्थों को विश्व के ऊपर भी लक्ष्य रखना पड़ता है। दोनों में दोनों की प्रधानता है। अन्तर केवल—प्रधानाप्रधानता का है। एक भाग कर्म्ममय विश्व को प्रधानता देता है। दूसरा भाग—ज्ञानमय आत्मा को प्रधानता देता है। कर्म्ममय विश्व त्रिगुणभावापन्न है। संहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थ इसी त्रिगुणभाव से युक्त हैं। त्रैगुण्यरूप आसक्तिकर्म्म से बन्धन होता है, अतएव भगवान् को कर्म्ममय (प्रवृत्तिकर्म्ममय) वेदग्रन्थों के लिए—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'[२]—यह कहना पड़ता है।

अस्तु, इस कर्म्मभाग की चर्चा में हम आपका अधिक समय नहीं लेना चाहते। हम आत्मविद्या-प्रतिपादक, दूसरे शब्दों में प्रविष्ट-ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषद् ग्रन्थों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। उपनिषदों में क्या है? ईशोपनिषद् के प्रारम्भ में किए गए इस प्रश्न का उत्तर है—'आत्मविद्यास्वरूपनिरूपणम्'—आत्मा-शब्द सापेक्ष शब्द है। पुत्र, पिता, माता, गुरु, राजा आदि कहते ही—किसका पुत्र, किसका पिता, किसका गुरु, कहाँ का राजा? आदि जानने की अपेक्षा होती है। इस अपेक्षा को—पिता का पुत्र, पुत्र का पिता पुत्र की माता, कुरुदेश का राजा आदि-आदि उत्तरों से शान्त किया जाता है। हमारा आत्मा-शब्द भी ठीक ऐसा ही है। 'आत्मा है' कहते ही 'किसका आत्मा'? यह जिज्ञासा होती है। इसका उत्तर है—विश्व का आत्मा। कहने का तात्पर्य्य यही है कि जैसे पुत्र के बिना पिताव्यवहार सर्वथा अनुपपन्न है, एवमेव बिना विश्व के—'आत्म'-व्यवहार सर्वथा अनुपपन्न है। बस, इसी अपेक्षाभाव के कारण उपनिषदों को—आत्मनिरूपण करते समय गौणरूप से विश्व को भी सामने रखना पड़ता है। उपनिषत् विश्व को लक्ष्य बना कर कहता है कि तुम विश्व की आराधना मत करो, किन्तु विश्वाधार विश्वात्मा की उपासना करो। जैसे आत्मा से विश्व की ओर लाना वेद के कर्म-काण्ड का काम है, ठीक इसके विपरीत

---

१. तै० उप० २।६। २. गीता २।४५।

विश्व से आत्मा की ओर ले जाना उपनिषत् का काम है—जैसा कि प्रश्नोपनिषत् के शान्ति-पाठ-विज्ञानप्रकरण में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है--

चतुष्टयं वा इदं सर्वम् —

१ = निर्विशेषः—रसरूपः,, = निर्धर्म्मकः ]— } शास्त्रानधिकृत

२ = परात्परः—सर्वबल
विशिष्टरसः = परमेश्वरः

३ = प्रविष्टात्मा—ईश्वरः

४ = प्रविष्टंब्रह्म— = जगत्—

(२, ३, ४) —सर्वधर्म्मोपपन्नः } —शास्त्राधिकृतः

उपनिषत् प्रविष्टात्मा का ही निरूपण करता है–इसमें कोई संदेह नहीं है। परन्तु प्रविष्टब्रह्म दो प्रकार का है। एक विश्वापेक्षया सर्वव्यापक विश्वशरीरावच्छिन्न ईश्वर, एवं सर्वभूतान्तरात्मा नाम से प्रसिद्ध, प्रविष्ट-ब्रह्म है। दूसरा विश्वापेक्षया परिच्छिन्न किन्तु शरीरापेक्षया सर्वव्यापक शरीरविश्वावच्छिन्न, जीव एवं भूतात्मा के नाम से प्रसिद्ध, प्रविष्ट-ब्रह्म है। इन दोनों में से--उपनिषत् किस प्रविष्ट-ब्रह्म का निरूपण करता है ?—यह प्रश्न है। इसका समाधान जीव नाम से प्रविष्ट-ब्रह्म को लक्ष्य बना कर किया जा सकता है। उपनिषदों में प्रधानता जीवात्मा की है। क्यों कि उपनिषत् बतलाता है कि तुम अपने स्वरूप को भूले हुए हो। उसे पहचानो। आत्मयाजी बनो। विश्वयाजी मत बनो। अपने सृष्ट को अपने प्रविष्ट पर ले जाओ। बस, सारे उपनिषद् एकमात्र इसी अर्थ का निरूपण करते हैं। इतना होने पर भी हम साथ ही साथ उपनिषदों को विभिन्नार्थ-प्रतिपादक मानने के लिए तैयार हैं। सभी उपनिषत् आत्मप्राप्ति का उपाय बतलाते हैं--परन्तु सब नानोपक्रम हैं। नानोपक्रम होने से सबका निरूपणीय-विषय पृथक्-पृथक् है। समाननिधन (अवसान) होने से सबका निरूपणीयविषय-एक है।

चूंकि उपनिषत् का प्रधान लक्ष्य जीवात्मा है, अतः इसी के विश्व का स्वरूप बतला कर प्रकृत का अनुसरण किया जाता है। अव्यय-अक्षर-क्षर की समष्टि ईश्वर है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी की समष्टि विश्व है। ये ही पाँचों जीव जगत् में–अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भोक्तात्मा, नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों का आधार चित्य-शरीर है। शरीर-पिण्ड में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूप भोक्तात्मा है। उस पर प्रज्ञान है। प्रज्ञान पर विज्ञान है। विज्ञान पर अव्यक्तगर्भित महान्

है। इस पर षोडषीपुरुष है। इस षोडशीपुरुष का नाम--अमृतात्मा है। अव्यक्तादि पाँचों का नाम ब्रह्मसत्य है। शरीर यज्ञसत्य है। यज्ञसत्य ब्रह्मसत्य पर प्रतिष्ठित है। ब्रह्मसत्य अमृत पर प्रतिष्ठित है। अमृत आत्मा है। यही प्राप्तव्य है। ब्रह्मसत्यरूप अव्यक्तादि पाँचों क्षर भाग एवं शरीर ये दोनों विश्व हैं। इनको अमृत पर पहुँचा देना, उपनिषदों का काम है। विश्व के अनेक अवयव हैं। सभी उपनिषत् सभी का अमृतात्मा से सम्बन्ध नहीं बतलाते। कोई उपनिषत्--भोक्तात्मोपक्रम है। कोई प्रज्ञानात्मोपक्रम है। कोई विज्ञानात्मोपक्रम है। कोई महानात्मोपक्रम है। कोई शरीरस्थ- ईश्वरात्मोपक्रम है। ईशोपनिषत्--ईश्वरात्मोपक्रम है। केनोपनिषत्--प्रज्ञानात्मोपक्रम है। कठोपनिषत्--भोक्तात्मोपक्रम है। प्रश्नोपनिषत्--पञ्चात्मोपक्रम है। मुण्डकोपनिषत्--विज्ञानात्मोपक्रम है। इस प्रकार कोई प्रज्ञान को लक्ष्य बना कर अमृतात्मा पर जाता है, कोई विज्ञान को, कोई महान् को, कोई भोक्तात्मा को। प्राप्तिस्थान एक है। मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। जो उपनिषत् प्राप्तिस्थानभूत जिसे प्रधान मानता है, हम उसको उसी का निरूपण करने वाला मान सकते हैं। हमारा माण्डूक्य-उपनिषत् भोक्तात्मा को उपक्रम मान कर उसे अमृतात्मा पर ले जाता है--अतः कठवत् हम इसे भोक्तात्मा का निरूपक मानने के लिए तय्यार हैं। वस्तुतस्तु यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाता है--तो इस उपनिषत् में सारा प्रपञ्च समाया हुआ मिलता है। उपनिषत् के उपक्रम-उपसंहार हमें इसके लिए बाध्य करते हैं कि इस उपनिषत् को हम--'सर्वोपनिषत्' कहें। जैसा कि आगे जा कर उपनिषदर्थ से अपने आप स्पष्ट हो जाएगा। प्रारम्भिक वक्तव्य समाप्त हो चुका। अब उपनिषत् प्रारम्भ किया जाता है--

इस उपनिषत् की सर्वात्मव्यापकता बतलाता हुआ निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है:--

## अथ माण्डूक्य-उपनिषद्

**"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव" ॥ १ ॥**

'ओम्' की ओर इशारा करके ऋषि कहते हैं कि--'ओम्' यह अक्षर सब कुछ है। इस सर्वरूप ओंकार का उपव्याख्यान (निरूपण) यही है कि--भूत,

भविष्यत्, वर्त्तमान सब कुछ ओंकार ही है। और जो त्रिकालातीत है—वह भी ओंकार ही है।

यह है—इस प्रथम मन्त्र का अक्षरार्थ। इसके तत्त्व-ज्ञान के लिए निम्न-लिखित प्रकरण पर दृष्टि डालना आवश्यक होगा—उपनिषत् आत्मा का निरूपण करते हैं—यह बतलाया जा चुका है। षोडशी-पुरुष का नाम ही अमृतात्मा है। अमृत नाम वास्तव में मध्यपतित अक्षर का है। मुण्डकोपनिषत् में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि अव्यय अविकुर्वाण होने से सृष्टिकर्त्ता नहीं है। क्षर विकुर्वाण होने से सृष्टिकर्त्ता नहीं है। कुर्वाण अक्षर ही सृष्टि का मूल है। यदि अक्षर न होता तो—न क्षर संसार का आरम्भण (उपादान) बन सकता था, न अव्यय-अधिष्ठान (आलम्बन) बन सकता था। अव्ययालम्बन पर-क्षरोपादान से सारा विश्व बन गया। यह मध्यपतित पञ्चकलकुर्वाण अक्षर की ही महिमा है, अतएव क्षर की उपादानता का तिरस्कार करके – ऋषि को स्पष्ट शब्दों में—

**तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति**[1]—

—यह कहना पड़ा है। सारा विश्व—'इदं सर्वम्' है। इस 'इदं सर्वम्' का उपादान क्षर है—आलम्बन अव्यय है। ऐसी अवस्था में—'अव्यययुक्तं क्षरमिदं सर्वम्' कहना चाहिए था—परन्तु ऐसा न कह कर ऋषि—'अक्षरमिदं सर्वम्' कह रहे हैं। कारण इसका यही है कि मध्यपतित अक्षर ही—अव्ययात्मक्षर को सृष्ट में प्रविष्ट करता है। अक्षर-ब्रह्म से केवल अक्षर ही अभिप्रेत नहीं है, अपितु, षोडशी-प्रजापति अभिप्रेत है। इसी षोडशी का नाम—'ओम्' है। यद्यपि—'ओम्' उसका अभिधान (नाम) है। 'ओम्' यह एकाक्षर ब्रह्म शब्द-ब्रह्म है। यह उस परब्रह्म का एकदेश (भाग) है। ऐसी अवस्था में उसके लिए 'ओम्' कहना अनुचित था। तथापि अभिधान और अभिधेय की अभेद विवक्षा कर—उसके लिए 'ओम्' कह दिया गया। यह अमृतात्मा (अक्षरात्मा षोडशी-पुरुष) आत्म-योनि है, जैसा कि पूर्व के उपनिषदों में बतलाया जा चुका है। भूतात्मा प्रज्ञान, विज्ञान, महान्, आदि इसी अक्षरसम्बन्ध से आत्मा कहलाता है। अमृतात्मा का पहले महान् से सम्बन्ध होता है। तद्द्वारा विज्ञान से सम्बन्ध होता है। तद्द्वारा वह चेतना प्रज्ञान में आती है। प्रज्ञान द्वारा भूतात्मा में आती है। इस प्रकार 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' के अनुसार यह एक ही अमृतात्मा सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। श्रुति को आत्मसामान्य का ग्रहण अभीष्ट है, अतएव किसी

---

१. मुण्डक उप० २।१।१।

एक का नाम न ले कर, अक्षर का नाम लिया है। क्यों कि अक्षर का सब के साथ सम्बन्ध है। यह अक्षर ब्रह्म-आत्मा (प्रविष्ट-ब्रह्म) है। हम बतला चुके हैं कि आत्मा सापेक्ष है। आत्मा के साथ विश्व का ग्रहण अवश्यंभावी है। उस ओम् रूप अक्षर से--आत्मा और विश्व दोनों का ग्रहण है। विश्व अङ्ग है। तत्प्रविष्ट आत्मा अङ्गी है। अङ्ग-विश्व त्रिकाल है। यह संसार पहले न था, आज है, आगे न रहेगा। भूतमय सम्पूर्ण विश्व--

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना" ॥[1]

--के अनुसार अव्यक्त, व्यक्त और अव्यक्त रूप है। विश्व में, विश्वान्तर्गत प्रत्येक पदार्थ में भूत, भवत्, भविष्यत् तीन कलाओं का सम्बन्ध है। तीनों कलाएँ मर्त्य हैं। तीनों का आधार विश्वात्मा तुरीय है--त्रिकालातीत है। वह त्रिकाला-बाधित है--नित्य है। आत्मा नित्य है, अतएव त्रिकालातीत है। विश्व अनित्य है, अतएव त्रिकालभावापन्न है। त्रैकालिक-विश्व, त्रिकालातीत-आत्मा दोनों एक अक्षर है। आत्मा का क्षरभाग ही विपरिणामी स्वभाव से विश्व बना है। वही क्षररूप से विश्व बन कर, अक्षररूप से उसमें प्रविष्ट हो उसका आत्मा बन रहा है—वही विश्व है और वही विश्व-प्रविष्ट है। अ, उ, म् ये तीन कलाएँ विश्व हैं। तुरीय अर्द्धमात्र 'आत्मा' है। दोनों की समष्टि ओंकार है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ अर्द्धमात्रा | प्रविष्टात्मा | त्रिकालातीतम् | 'भूतं, भवत्, भविष्यत् यच्चान्यत् त्रिकालातीत 'सर्वम्'-ओंकार एव" |
| १ अ, भविष्यत्<br>२ उ, भवत्<br>३ म्, भूत | —विश्वम् | —त्रैकालिकम् | |

पञ्चविध ओंकार निरूपण

प्रविष्टात्मा के--अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा ये पाँच विवर्त्त हैं। सृष्ट-विश्व के—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये पाँच विवर्त्त हैं। प्रथम मन्त्र में श्रुति समष्टिरूप से, सबका एक साथ निरूपण करती है। इससे व्यष्टि का भी निरूपण हो जाता है। समष्टि सम्बन्ध से एक

---

१. गीता २।२८।

ओंकार होता है। व्यष्टि सम्बन्ध से पाँच ओंकार हो जाते हैं। जैसा कि निम्न-लिखित क्रम से स्पष्ट हो जाता है।

अव्यक्तोंकारः १

१ षोडशीगर्भित अव्यक्तात्मा अर्द्धमात्रा त्रिकालातीतम्

१ महानात्मा = अ
२ विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा = उ —त्रैकालिकम्
३ भूतात्मा = म

महदोंकारः २

१ षोडशी अव्यक्त गर्भितमहानात्मा अर्द्धमात्रा त्रिकालातीतम्

१ विज्ञानात्मा = अ
२ प्रज्ञानात्मा = उ —त्रैकालिकम्
३ भूतात्मा = म्

विज्ञानोंकारः ३

१ षोडशी अव्यक्त महद्गर्भित विज्ञानात्मा अर्द्धमात्रा त्रिकालातीतम्

१ प्रज्ञानात्मा = अ
२ भूतात्मा = उ, —त्रैकालिकम्
३ शरीरम् = म्

प्रज्ञानोंकारः ४

१ षोडशी अव्यक्त महद्विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा अर्द्धमात्रा त्रिकालातीतम्

१ वैश्वानरः = अ,
२ तैजसः = उ, —त्रैकालिकम्
३ प्राज्ञः = ,म्

भोक्तात्मा ओंकारः ५

१ षो. अ. म. वि. प्रज्ञानगर्भित भोक्तात्मा अर्द्धमात्रा त्रिकालातीतम्

१ इन्द्रियाणि = अ,<br>
२ भोगाः = उ, } —त्रैकालिकम्<br>
३ भोगायतनशरीरम् = म्

अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भोक्ता ये पाँच ब्रह्म हैं। प्रत्येक ब्रह्म चतुष्पात् है। इसमें तीन पाद अङ्ग हैं। एक पाद अङ्गी है। तीन मर्त्यकला हैं। एक अमृत है। दोनों की समष्टि ओंकार है। निदर्शनमात्र है। ऐसे-ऐसे अनन्त ओंकार हो जाते हैं। संसार का एक एक परमाणु ब्रह्म है। प्रति ब्रह्म चतुष्पात् है। प्रत्येक में तीन अङ्ग हैं। एक अङ्गी है। 'इदं' सर्वम् से ऋषि को सबका ग्रहण अभीष्ट है, अतएव किसी एक का नाम न ले कर आत्मा के लिए अक्षर, और विश्व के लिए भूत, भवत्, भविष्यत् का निर्देश करते हैं। अव्यक्तादि चाहे कोई सा ब्रह्म हो–उसके मर्त्य तीन पाद अवश्यमेव त्रिकालभावापन्न रहते हैं। आत्मभाव अक्षर से सम्बन्ध रखता है। इसी सामान्य विज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने—'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्'—यह कहा है। प्रज्ञान, विज्ञान, महान् सब कुछ अक्षर ही है। अक्षर ही सब बना है। इससे श्रुति उपदेश देती है कि यदि तुम सर्वज्ञ बनना चाहते हो, आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, तो अक्षर की उपासना करो। अक्षर जैसे सब रूप में परिणत होता हुआ भी सब से अलग है एवमेव उसे पहचानने के बाद, तुम सब कुछ करते हुए भी बन्धनों से अलग रहोगे। यही इस अक्षर का उपव्याख्यान (स्वरूप-परिचय) है।

( २ )

इसी प्राक्कथन का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जा कर ऋषि कहते हैं—

**"सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा 'चतुष्पात्' ॥२॥**

आत्मब्रह्म का चतुष्पाद्-भाव दो प्रकार से समझना चाहिए। सृष्टयुक्त प्रविष्टात्मब्रह्म चतुष्पात् है। विश्व त्रिपात् है। आत्मा एकपात् है। दोनों की समष्टि चतुष्पात्-ब्रह्म है—जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। अब विश्व

को छोड़ दीजिए। केवल प्रविष्ट आत्मब्रह्म को ही लीजिए। वह स्वयं भी चतुष्पात् है। अव्यय प्रथम पाद है। अक्षर द्वितीय पाद है। बाकी बचता है आत्मक्षर। इसके ब्रह्म-सुब्रह्म दो भेद होते हैं। ब्रह्म से अनस्था (स्थिर) सृष्टि होती है। ब्रह्मगर्भित सुब्रह्म से अस्थन्वा (अस्थिर) सृष्टि होती है। आत्मक्षर का प्राण-भाग वेदत्रयी-रूप में परिणत रहता है। इसी का नाम ब्रह्म है। इसके प्राण-भाग से सुब्रह्म का प्रादुर्भाव होता है। ब्रह्मगर्भित सुब्रह्म ही शुक्र है। यह सृष्टि का मूल है। इसे ही—'अव्यक्त' कहा जाता है। बिना विज्ञान सम्बन्ध के यह शुक्र घोर तमोरूप है। 'तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे'[1] 'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्'[2] इत्यादि श्रुति-स्मृति वचन इसी अव्यक्त तमोमय शुक्र का निरूपण करते हैं। शुद्ध ब्रह्म-भाव सृष्टि का उपादान है। ब्रह्मगर्भित सुब्रह्म शुक्र--मैथुनीसृष्टि का कारण है। यही शुक्र विज्ञान-सम्बन्ध से–'महान्' नाम धारण करता हुआ–त्रिगुणभावापन्न हो जाता है। जैसा कि–'अदितिर्देवतामयी' इत्यादि मन्त्रव्याख्यानद्वारा कठोपनिषत् में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। कहना सारे प्रपञ्च से यही है कि विश्व-प्रविष्ट आत्मा का क्षरभाग--ब्रह्म और सुब्रह्म दो भागों में परिणत हो कर सृष्टि का उपादान होता है। दोनों उसी प्रविष्ट के अवयव हैं। इन दोनों के कारण विश्वोपहित शुद्ध प्रविष्ट आत्मा भी--चतुष्पात् हो जाता है। चारों पाद–एक कला है। विश्व त्रिकल है। दोनों की समष्टि एक ओंकार है--

१ अव्यय<br>
२ अक्षर<br>
क्षर { ३ ब्रह्म<br>
४ सुब्रह्म

} —प्रविष्टातमा— १ अर्द्धमात्रा — विश्वोपहितं ब्रह्म चतुष्पात्

स्वयम्भू<br>
परमेष्ठी<br>
सूर्य्य<br>
चन्द्रमा<br>
पृथिवी

} —सृष्टं ब्रह्म— भूत० १–अ०, भवत्० २–उ०, भवि० ३–म्०

} ओम्–विश्वविशिष्टं ब्रह्म अपि चतुष्पात्

---

१. ऋग्वेद मं० १०।१२९।३।२। २. मनुस्मृति १।५।

जैसे अक्षर अमृत नाम से प्रसिद्ध है—एवमेव क्षर 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' के अनुसार ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व मन्त्र में ऋषि ने 'अक्षरमिदं सर्वम्' कहा है। परन्तु यथार्थ में 'इदं सर्वम्' का कारण (उपादान कारण) अक्षर नहीं विपरिणामि क्षरब्रह्म है। ब्रह्म (क्षर) इदं सर्वम् है—न कि अक्षर। इसीलिए इस दूसरे मन्त्र में ऋषि को 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' यह कहना पड़ा है। क्षर-ब्रह्म ही 'इदं सर्वम्' है—परन्तु वह अक्षर भी इससे पृथक् नहीं है। मार्ग भिन्न है। सत्ता एक है। वह अक्षरात्मा ही—क्षर-ब्रह्म है। उसका अमृत-भाग अक्षर है—मर्त्यभाग क्षर है। दोनों मिल कर एक प्रजापति है। कहने को आत्मा (अक्षर) और ब्रह्म (क्षर) भिन्न हैं। वस्तुतः यह आत्मा ही (अक्षर ही) ब्रह्म है। ब्रह्म ही सब कुछ है। इसी अभिप्राय से—'अयमात्मा' (अक्षरम्) ब्रह्म (क्षरम्) कहा है। वह एक ही—उपादान है। वही निमित्त है। वही आलम्बन है—यह कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देने के लिए ऋषि को आगे जा कर—'सोऽयमात्मा चतुष्पात्'-यह कहना पड़ा है। एक ही आत्मा के—अव्यय, अक्षर, ब्रह्म, सुब्रह्म ये चार पाद हैं। इस एक आत्मा का पहला अव्ययपाद सृष्टि का आलम्बन है। दूसरा अक्षरपाद निमित्त है। तीसरा चौथा-ब्रह्म सुब्रह्म पाद उपादान हैं। क्षराभिप्राय से—सारा विश्व आत्मा है। अक्षराभिप्राय से आत्मा विश्व का कर्त्ता है-अव्ययापेक्षया आत्मा आधार है। अव्ययापेक्षया आत्मा-न कर्त्ता है-न कारण है। न उपादान है। अक्षरापेक्षया आत्मा कर्त्ता हो कर भी अकर्त्ता है। क्षरापेक्षया—'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' है।

अथवा इस द्वितीय मन्त्र को प्रतिसंचर क्रम का निरूपक मानना चाहिए। प्रकरण के प्रारम्भ में ही बतलाया जा चुका है कि— आत्मा से (एक से) विश्व की ओर (नानाभाव की ओर) आना संचर पक्ष है— विज्ञान पक्ष है। प्रथम मन्त्र इसी का निरूपण करता है। 'अक्षरमिदं सर्वम्' में अक्षर उद्देश्य है। सर्वं विधेय है। अक्षर से सब बना है। एक से अनेक बना है—यही संचर है। विश्व से (नानाभाव से) आत्मा की ओर (एकत्व की ओर) जाना प्रतिसंचर है— यही ज्ञान है। दूसरा मन्त्र इसी का निरूपण करता है। 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' में—सर्वं को उद्देश्य बना कर ब्रह्मत्व का विधान है। क्षरविश्व सर्वम् है। इसकी अन्तिम गति ब्रह्म (क्षर) है। ब्रह्म के आगे आत्मा (अक्षर) है। वही चतुष्पात् बन कर—संचर-प्रतिसंचर का अधिष्ठाता बन कर सब कुछ बना हुआ है। नानात्व भेद का कारण है। भेद अन्तर है। 'यदुदरमन्तरं कुरुते अथ भयं भवति' के अनुसार—अन्तर भय का कारण है। भय क्षोभ रूप है। क्षोभ अशान्ति है। 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। ठीक इसके विपरीत-एकत्व अद्वैत का कारण है। अद्वैत

अनन्तर अतएव भेदशून्य है। संचर-प्रतिसंचर दिखलाती हुई श्रुति कहती है कि जो तुम नानात्व देख रहे हो, विश्वास करो, नाना कुछ नहीं है। वह एक ही तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। संचर-प्रतिसंचर द्वारा जिस दिन तुम उसे पहचान जाओगे उस दिन तुम उस एकस्वरूप अभयपद को प्राप्त कर लोगे।

( ३ )

सृष्टोपहित प्रविष्टब्रह्म भी चतुष्पात् है एवं सृष्टिविशिष्ट प्रविष्ट भी चतुष्टयभावापन्न है। जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। उदाहरण के लिए यहाँ एक ब्रह्म की चतुष्पात्ता बतला कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है। सब से नजदीक भोक्तात्मा है। उसके ऊपर प्रज्ञान है। प्रज्ञान के ऊपर विज्ञान है। विज्ञान के ऊपर महान् है। महान् के ऊपर अव्यक्त हैं। उसके ऊपर षोडशी है। साधारण मनुष्य भोक्तात्मा-प्रज्ञान को पहचानते हैं। प्रज्ञान-मन के काम सभी देखते हैं। भोक्तात्मा का प्रत्यक्ष 'अहमस्मि' रूप से सभी को हो रहा है, अतएव 'स्थूलारुन्धतीन्याय' को लक्ष्य में रख कर ऋषि अतिसन्निकट सर्वपरिचित भोक्तात्मा विशिष्टप्रज्ञान ब्रह्म को उदाहरण के लिए हमारे सामने रखते हैं। प्रज्ञान ब्रह्म है। इसके साथ तीन भोक्ता की कलाएँ हैं। चितेनिधेय अग्नि से निष्पन्न वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ की समष्टि भोक्तात्मा है। इसी को कठोपनिषत् में हमने देवसत्य कहा है। इस देवसत्य को अपने ऊपर धारण करने वाला वही—'ब्रह्म'-सत्य का अवश्य रूप प्रज्ञान ब्रह्म है। प्रज्ञानात्मा—उसी अन्तर सम्बन्ध से आत्मा कहलाता है। प्रज्ञान विज्ञान महान् अव्यक्त षोडशी रूप का प्रज्ञान से ग्रहण है। क्यों कि 'संस्था' विभाग के अनुसार उत्तर-उत्तर के आत्मा में पूर्व-पूर्व आत्माओं का सम्बन्ध मानना पड़ता है। वैश्वानर अग्नि है। तैजस वायु है। प्राज्ञ इन्द्र है। वैश्वानर अर्थशक्ति का अधिष्ठाता है। तैजस क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है। प्राज्ञ ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है। इस प्रकार स्थूलदृष्टि से देखने पर इस शरीर में ज्ञानक्रियार्थमूलक अग्नि-वायु-इन्द्र इन तीन ही देवताओं का साम्राज्य दीखता है। परन्तु ऋषि कहते हैं कि ये तीनों—उस ब्रह्म की महिमा से महीयान् बन रहे हैं—जो कि ब्रह्म इन तीनों का आलम्बन है एवं गुणी है-अक्षर रूप है। उसी की उपासना करनी चाहिए। अस्तु, इस विषय को प्रकृत से हम अधिक नहीं बढ़ाना चाहते। केनोपनिषत् में बड़े विस्तार के साथ इस विषय का निरूपण किया जा चुका है। प्रकरणसंगति के लिए यहाँ इतना ही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि—प्रज्ञानात्मा आत्मा है, अङ्गी है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ ये इसके तीन अङ्ग हैं। चारों को मिला कर एक प्रज्ञानब्रह्म है। वैश्वानर इसका प्रथम पाद

है । तैजस द्वितीय पाद है । प्राज्ञ तृतीय पाद है । स्वयं प्रज्ञान चौथा पाद है । वही शिव ज्ञान अद्वैत है । साक्षात् अक्षर है । उसी की उपासना करनी चाहिए । बस, अन्त तक केवल इसी पूर्वोक्त उपोद्घात का क्रमशः—स्पष्टीकरण है । वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ की समष्टि को भोक्तात्मा बतलाया गया है । इन तीनों में वैश्वानर सब में स्थूल है । प्रथम इसी का निरूपण करते हुए माण्डूक्य कहते हैं—

इस मन्त्र के अर्थ से पहले तत्सम्बन्धी कुछ बाहर का विषय जान लेना आवश्यक होगा—

**"जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः" ॥ ३ ॥**

इस प्रकरण में क्रमशः वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, को स्थूलभुक्, प्रविविक्त भुक्, आनन्द भुक् बतलाया जाता है । वैश्वानर स्थूलभुक् है, बहिःप्रज्ञ है, जागरित स्थान है, सप्ताङ्ग है, एकोनविंशतिमुख है । तैजस प्रविविक्तभुक् है, अन्तःप्रज्ञ है, स्वप्नस्थान है, सप्ताङ्ग है, एकोनविंशतिमुख है एवं प्राज्ञ आनन्दभुक् है, सुषुप्तस्थान है, चेतोमुख है, प्रज्ञानघन है ।

इस उपनिषत् में वैश्वानर जाग्रदवस्था का अधिष्ठाता है । तैजस स्वप्नावस्था का अधिष्ठाता है एवं प्राज्ञ सुषुप्त्यवस्था का अधिष्ठाता है । वस्तुतः—ऐसा है नहीं । परन्तु ऐसा है भी । तभी तो यहाँ ऐसा कहा है । यह दोनों विरुद्ध धर्म कैसे सम्भव हो सकते हैं ? इसके लिए कठ उपनिषद् में कही हुई अवस्था-त्रय के स्वरूप को समझना चाहिए । तीनों अवस्थाओं का स्वरूप बतलाते हुए कठोपनिषत् में बतला दिया गया है कि—महान्, विज्ञान, प्रज्ञान इन तीनों की जाग्रदवस्था का नाम जाग्रदवस्था है । महान् विज्ञान की जाग्रदवस्था एवं प्रज्ञान की सुषुप्ति-अवस्था का नाम स्वप्नावस्था है । महान् की जाग्रदवस्था एवं विज्ञान प्रज्ञान की सुषुप्त्यवस्था का नाम सुषुप्त्यवस्था है एवं महान् भी सो जाता है तो वही मृत्यु-अवस्था है । इन्द्रियों द्वारा—बाहर के विषय प्रज्ञान-मन देखा करता है । यह जाग्रदवस्था है । बाहर के विषयों से उपराम होने पर प्रज्ञान अन्तर्मुख हो जाता है । परन्तु प्रत्यक्ष दृष्ट विषयों के भावना वासना संस्कार इस पर प्रतिष्ठित रहते हैं । विज्ञान इन्हें देखा करता है । परन्तु जब महान् में लीन हो जाता है तो—सुषुप्ति हो जाती है । इस प्रकार प्रज्ञान की तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं । बहिरंग-विषय-संसक्त प्रज्ञान जाग्रदवस्था का अधिष्ठाता है । बहिरंग

विषय-पराङ्मुख विज्ञान में लीन प्रज्ञान स्वप्नावस्था का अधिष्ठाता है एवं महदक्षररूप आत्मा में लीन प्रज्ञान सुषुप्ति का अधिष्ठाता है। इसी अवस्था के लिए 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते'—इत्यादि कहा जाता है। विज्ञान मौजूद है। परन्तु जिन संस्कारों को यह देखता है–उन संस्कारों को अपने ऊपर लिए हुए प्रज्ञान में डूबा हुआ है, अतः रहता हुआ भी विषय नहीं देखता। इस मन्त्र में महान् विज्ञान नित्य जाग्रत् है। प्रज्ञान (मनःसर्वेन्द्रियात्मा) मात्र तीन अवस्थाओं से युक्त है। प्रज्ञान चान्द्रभाग है। इसके नीचे पहले प्राज्ञ है। बाद में तैजस है। अन्त में वैश्वानर है। इन तीनों की समष्टि ही देवसत्य है–यही जीवात्मा है। यहाँ पर ऋषि इन तीनों को अवस्थात्रय से युक्त बतलाते हैं। इसका कारण यही है कि अवस्थात्रय का अधिष्ठाता पूर्वोक्त प्रज्ञानात्मा––योनि रूप से हृदय में, प्रतिष्ठारूप से भ्रूसंधि में रहता हुआ––आशयरूप से सर्वाङ्ग-शरीर में व्याप्त रहता है। 'आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः' के अनुसार लोमनखाग्रभाग को छोड़ कर जहाँ तक 'खून' का सम्बन्ध है, वहाँ तक यह तत्त्व व्याप्त है। इसी आधार पर–'यावान् वै रसस्तावानात्मा' यह कहा जाता है। इस प्रकार–प्रज्ञान की व्याप्ति सर्वाङ्ग शरीर में होजाती है। रस तक ही प्रज्ञान रहता है, अतएव शुष्क स्थान में––शून्यस्थान में वेदना का अनुभव नहीं होता। शरीर में रसासृक्मांस-मेदोस्थि-मज्जा-शुक्र–ये सात धातु हैं। सातों धातु पार्थिव हैं। अग्नि के चिनाव से सातों धातु बने हैं। ये सातो चित्य अग्नि हैं। यह पिण्ड पृथिवी का भाग है। इन सातों में ही गर्मी है। यह गर्मी त्रिवृत्स्थानीय वैश्वानर-अग्नि की है। यह चितेनिधेय है। सातों धातु और उनमें रहने वाली गर्मी, दोनों मिल कर एक अग्नि है—दोनों तादात्म्यापन्न हैं—धातुशक्तिमान् हैं—गर्मीशक्ति है। शक्ति-शक्तिमान् का अभेद है, अतएव चित्यचितेनिधेय अग्निद्वय का हम 'वैश्वानर' से ग्रहण कर सकते हैं। यह पहिला स्थूल विभाग है। विज्ञानपरिभाषा में यही 'वाक्' (भूतप्रपञ्च) है। इस अग्निरूप अर्थप्रपञ्च या वाक्प्रपञ्च के भीतर वायुरूप प्राणतत्त्व है। शरीर पृथिवीपिण्ड है। पृथिवी माता है। इसमें सर्वत्र प्राणभाग व्याप्त है, अतएव प्राणरूप वायु को मातरिश्वा कहा जाता है। शरीरावयवों का संचार इसी के द्वारा होता है। यह तैजस वायु एकरूप हो कर भी सात धातुओं के क्रम से––सात भागों में विभक्त हो जाता है। प्राणाग्नि की अपेक्षा यद्यपि इसे पञ्चधाविभक्त बतलाया जाता है[1]––तथापि भूतरूप सप्तावयव वैश्वानर की अपेक्षा––यह भी सप्तावयव कहला सकता है। इसके भीतर ज्ञानशक्तिका अधिष्ठाता प्राज्ञ इन्द्र है। यह ज्ञान एकरूप है। प्राज्ञ ज्ञानमय है।

---

१. द्रष्टव्य प्रश्न उप०।

तैजस क्रियामय है। वैश्वानर अर्थमय है। उस प्रज्ञान की व्याप्ति वैश्वानर तक है। तीनों में प्रज्ञान व्याप्त हो रहा है। ज्ञानगर्भित अर्थ वैश्वानर है। ज्ञानगर्भित क्रिया तैजस है। क्रियार्थगर्भित ज्ञान प्राज्ञ है। यद्यपि भोक्तृत्व ज्ञानमयप्राज्ञ का धर्म है--परन्तु तैजस-वैश्वानर भोग में सहकारी हैं। वैश्वानर स्थूल-विषयों के भोग का साधक है। तैजस संस्कार-जगत् के भोग का साधक है। प्राज्ञ शुद्ध भोक्ता है। इन्द्रियों द्वारा प्रज्ञान बाहर आ कर विषयों से सम्बन्ध करता है। यही प्रज्ञान का स्थूल भोग है। इस समय प्रज्ञान वैश्वानर तक व्याप्त रहता है। स्थूलपदार्थों का भोग -प्रज्ञान-वैश्वानर को साथ ले कर ही करने में समर्थ होता है। जाग्रदवस्था में प्रज्ञान वैश्वानर तक व्याप्त रहता है। सुतरां वैश्वानरयुक्त प्रज्ञान की स्थूलभोगता सिद्ध हो जाती है। बस, इसी विज्ञान को सामने रख कर यहाँ ऋषि ने वैश्वानर को स्थूलभुक् बतलाया है। वैश्वानर स्थूलभुक् नहीं है। वैश्वानरावच्छिन्न प्रज्ञान स्थूलभुक् है। जब तक बहिर्जगद्रूप स्थूल जगत् का इन्द्रियों के द्वारा भोग करता रहता है तभी तक आत्मा जाग्रदवस्थापन्न कहलाता है। ऋषि को प्रज्ञानगत अक्षर की ओर ले जाना है। उसे भोगशून्य बतलाना है, अतः उसका नाम न ले कर यहाँ केवल वैश्वानर को स्थूलभुक् बतलाया है। परन्तु यहाँ प्रज्ञान अवश्य है। अन्यथा भोग असंभव है। यदि प्रज्ञानांश वैश्वानर में न होता तो इसे कभी 'ब्रह्म' का 'पाद' (अंश) न बतलाया जाता। 'प्रथमःपादः' वाक्य ही यह सिद्ध करता है कि वैश्वानर में एक अंश उसका मौजूद है। वैश्वानर सप्तचितिरूप है। सात धातु भी सप्तचिति हैं। सातों धातु अग्निरूप हैं, अतएव 'सप्तचितिकोऽग्निः'--यह कहा जाता है। प्रकारान्तर से-चत्वार आत्मा, द्वौपक्षौ-पुच्छंप्रतिष्ठा भी सात अवयव हैं। इन सात अवयवों के कारण हम अवश्य ही वैश्वानर को 'सप्ताङ्ग' कह सकते हैं। वैश्वानरावच्छिन्न प्रज्ञान स्थूलभुक है-भोक्ता है। स्थूलजगत् के घटपटादि पदार्थ भोग्य हैं एवं ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ प्राणोदानादि प्राण, १ मन, २ बुद्धि, ३ चित्त, ४ अहंकार- नाम से प्रसिद्ध अन्तःकरण यह १९ वस्तुभोगसाधन हैं। ज्ञानेन्द्रियों से जो स्थूल पदार्थों का भोग होता है, उससे भावना-संस्कार होता है। कर्मेन्द्रियों से जो संस्कार आता है, वह वासना कहलाता है। इन संस्कारों से ही स्वप्नावस्था बनती है—जैसा कि अनुपद में ही बतलाने वाले हैं। इन्द्रियादि प्रज्ञान के मुख हैं, न कि वैश्वानर के। परन्तु जाग्रत् में वैश्वानर को साथ ले कर प्रज्ञान इन १९ से भोग करने में समर्थ होता है, अतएव यह १९--वैश्वानर के मुख मान लिए जाते हैं। प्रज्ञाभाग वैश्वानर से युक्त है। इसीलिए वैश्वानर को बहिःप्रज्ञ कहा है। स्थूल पदार्थों के सम्बन्ध में इन्द्रियद्वारा वैश्वानरयुक्त प्रज्ञा बहिर्मुख ही रहती है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्राज्ञांशयुक्त सप्तचितिक एकोनविंशतिमुख बहिःप्रज्ञ स्थूलभुक

वैश्वानर--उस चतुष्पाद का प्रथम पाद है—एक अंश है। यही जागरित स्थान है। अवस्था का अधिष्ठाता प्रज्ञान ही है। इस अवस्था में वैश्वानर रहता है। वह स्वयं अवस्था का अधिष्ठाता नहीं है। इसीलिए वैश्वानर के लिए जागरित-स्थानः (स्थानीयः--नतु अवस्थाधिष्ठाता) कहा है। दूसरे शब्दों में--वैश्वानरा-वच्छिन्न—सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख बहिःप्रज्ञ—जागरितस्थान प्रज्ञान ही--उसका एक पाद है। ऋषि ने ऐसा नहीं कहा क्यों कि--प्रज्ञान से वैश्वानर की ओर नहीं आना है वैश्वानर से प्रज्ञान की ओर जाना है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते हुए कारण पर जाना है।

( ४ )

वैश्वानररूप वाक्प्रपञ्च के भीतर प्राणरूप तैजस है। तैजस-भी--सप्ताङ्ग है—एकोनविंशतिमुख है। यहाँ पर रहने वाला प्रज्ञान--स्थूल-विषयों से अलग है। स्थूलविषयों का संस्कार मात्र है। स्थूलविषय हट गए हैं। स्थूलविषयों से पृथग्भूत--संस्कार जगत् ही 'प्रविविक्त' भाग है। जब प्रज्ञान बाहर के विषयों को छोड़ देता है तो वैश्वानर का साथ भी छूट जाता है। प्रज्ञान तैजस पर आ जाता है। इस समय का प्रज्ञान अन्तर्मुख है। यहाँ तैजस के सहारे एकोनविंशतिमुख हो कर तैजसाच्छिन्न प्रज्ञान उस संस्कार रूप प्रविविक्त भाग का भोग करता है। तैजस वायु है। वायु में गति है। जिसका यह वायव्यभाग प्रवृद्ध होता है उसे विचित्र-विचित्र स्वप्न आया करते हैं। वातज प्रकृति को अधिक स्वप्न आते हैं। वायु व्यापार के कारण आगत संस्कारों का समन्वय ऊट-पटाँग हो जाता है जैसा कि कठ में बतलाया जा चुका है। प्रज्ञानावच्छिन्न तैजस-प्राज्ञ की अन्तर्मुखता के कारण स्वयं अन्तर्मुख है। भोग साधन १९ भाग यहाँ भी मौजूद है क्यों कि बिना इनके भोग असंभव है। यह तैजस स्वप्नस्थानीय है। स्वप्न का अधिष्ठाता नहीं, स्वप्नस्थानीय है। यह प्रज्ञान ब्रह्म का दूसरा पाद है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

**स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञःसप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः।**
**प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयःपादः ॥४॥**

( ५ )

तैजस के ऊपर—प्राज्ञ रूप इन्द्र है। इसके आश्रित ही प्रज्ञान है। प्राज्ञ प्रज्ञान से संनिकट है। प्रज्ञान चिद्घन है। उसका प्रथम सम्बन्ध प्राज्ञ इन्द्र से

होता है, अतएव इसके लिए 'स हि एनं नेदिठं पस्पर्श—स हि प्रथमं विदाञ्चकार' (केनोपनिषत्)—यह कहा जाता है। प्रज्ञान का चिदंश पहले प्राज्ञ में आता है। तद्द्वारा तैजस में जाता है। तद्द्वारा वैश्वानर में आता है। येही तीनों केन उपनिषद् के अग्नि, वायु, इन्द्र, हैं। यहाँ कहा गया है कि अग्निवायु-उस महायज्ञ को न पहचान सके। जब इन्द्र गए तो वह महद्यक्ष गायब हो गया। इसका तात्पर्य्य यही है कि क्रियारूप तैजस अर्थरूप वैश्वानर ज्ञान से विजातीय है। प्राज्ञ भाग ज्ञानप्रधान होने से सजातीय है अतः यह अंश-ज्ञान उस ज्ञानघन में डूब जाता है। शुद्ध प्रज्ञा-प्रज्ञान में डूब जाती है, अतः प्राज्ञ भाग प्रज्ञानघन हो जाता है। तैजस में व्यापार था। जब तक तैजस था—तब तक स्वप्नदर्शनरूप व्यापार था। तैजस से अलग हो कर जब प्रज्ञान शुद्ध प्राज्ञ युक्त हो जाता है तो सारा व्यापार बंद हो जाता है। यहाँ प्रज्ञान प्राज्ञ का भेद जाता रहता है। दोनों उस महदक्षर में डूब जाते हैं। यही सुषुप्त्यवस्था है। इस समय सारे इन्द्रिय भाग गायब हैं। केवल चिन्मात्र अवशिष्ट हैं: प्राज्ञावच्छिन्नप्रज्ञान संस्कारों से भी अलग हो जाता है, अतएव कामना की निवृत्ति हो जाती है। न यह अन्तः प्रज्ञ है—न बहिःप्रज्ञ है। केवल प्रज्ञानघन है, आनन्दमय है। आनन्दयुक्त है। अव्यय के—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् पाँच कोश हैं। पाँचों में मन प्रज्ञानरूप से विकसित है, यही भोक्ता है। यही प्रज्ञान—प्राज्ञ, तैजस, वैश्वानर रूप में परिणत हो कर क्रमशः—वाक्प्राण, आनन्द का भोग करता है। वाक् अन्नमय कोष है। स्थूल जगत् इसी का विकास है। अपने वैश्वानर भाग से प्रज्ञान स्थूल का भोग करता है। अन्न के भीतर प्राण है। संस्कार-जगत् प्राणरूप है। यह प्राणमय कोश का विकास है। अन्न से अलग होने के कारण यह प्राणरूप संस्कार-जगत् प्रविविक्त है। अपने तैजस भाग से इसका भोग करता है। तीसरा मनोमय कोष है। उसका विकास स्वयं भोक्ता प्रज्ञान है। मन के बाद विज्ञानमय कोष है। विज्ञान भोग का साधन है। बाकी बचता है—आनन्द। चेतोमुख प्राज्ञभाग से वह इसका भोग करता है। भोगत्रय के कारण तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। इनमें से इसी तीसरी अवस्था का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

**"यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः" ॥५॥**

( ६ )

वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ ही अधिदैवत में (ईश्वर-शरीर में) वैश्वानर,

हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ-नाम से प्रसिद्ध है। इनमें प्रधान सर्वज्ञ है। इन्द्र है। इन्द्र ही विश्व का मूल है। सारे भूतों का अधिपति यही है। प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण यही है। वाक् का नाम इन्द्र है। स्वयम्भूवाक् इन्द्र वाक् है। उसी से सारा विश्व बना है, अतएव 'नेन्द्राद्ऋते पवते धाम किञ्चन' यह कहा जाता है, अतएव—'अथोवागेवेदं सर्वम्' कहा जाता है। वाक् यह इन्द्राक्षर है। कठोपनिषद् में बतलाया गया है कि ब्रह्मा का क्षर पुरुष से सम्बन्ध है। विष्णु का अव्ययपुरुष से सम्बन्ध है एवं इन्द्र का मध्यपतित अक्षर से सम्बन्ध है। अक्षर इन्द्ररूप है। मध्यपतित इन्द्राक्षर से ब्रह्मा-विष्णु-इन दोनों अक्षरों का भी ग्रहण हो जाता है। अक्षरत्रय मिल कर एक अक्षर है। वाक् यह एक इन्द्राक्षर है। अक्षर यह ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र नाम मे प्रसिद्ध तीन अक्षर हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर 'वागित्येकमक्षरम् = अक्षरमिति त्र्यक्षरम्'—यह कहा जाता है! पिण्डनिर्म्माण—अग्नीषोम से होता है। हृदय में प्रतिष्ठत हो कर उस पिण्ड का संचालन करना इस अक्षर का काम है, अतएव कबन्ध अथर्वा ने—'अन्तस्तिष्ठन् नियमयति सर्वान्'—इस व्युत्पत्ति को लक्ष्य में रख कर इसे इन्द्र प्रधानाक्षर को—'अन्तर्य्यामी' कहा है। ईश्वर का यह सर्वांश ही जीव जगत् में प्रविष्ट हो कर प्राज्ञ कहलाने लगता है। अविद्यादिदोषों से यह अपने उस सर्वज्ञरूप को भूल रहा है। ऋषि उसी भूल को दूर करने की चेतावनी देते हुए कहते हैं कि जिस प्राज्ञ को तुमने साधारण समझ रक्खा है, वह सर्वज्ञांशभूत होने से सर्वज्ञ है—सर्वेश्वर है—अन्तर्यामी है। सब का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है। उस समीपस्थ को पहचानो। इसी में तुम्हारा कल्याण है। अपि च अध्यात्मजगत् के लिए तो यह प्राज्ञ ही सर्वेश्वर है, यही इस शरीर भूतप्रपञ्च की योनि है। क्रिया और अर्थ इस ज्ञान शक्ति पर प्रतिष्ठित हैं। वस्तुतः प्रतिष्ठित उस चिदात्मा पर है जो कि प्रज्ञान-घन है परन्तु भूतादि में उसका सम्बन्ध प्राज्ञ द्वारा ही होता है। वही भूतसंपरिष्वक्त होता है, अतएव इनकी अपेक्षा इसे ही हम सर्वेसर्वा कहेंगे—इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं—

**"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी ।**
**एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्" ॥६॥**

( ७ )

**नान्तः प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं**
**न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षण-**

**मचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः" ॥७॥**

१ अव्यक्त, २ महान्, ३ विज्ञान, ४ प्रज्ञान—इनका एक विभाग समझिए। १ प्राज्ञ, २ वैश्वानर, ३ तैजस, ४ शरीर—इन चारों का एक विभाग समझिए। इन सब की समष्टि विश्व अध्यात्मजगत् है। इस अध्यात्मजगत् में वह अमृतात्मा प्रविष्ट होता है। अव्यक्त ब्रह्म है। महान् सुब्रह्म है। दोनों अविनाभूत हैं। दोनों मिलकर शुक्र हैं अर्थात्—'महान्' से अव्यक्त महान्—दोनों का ग्रहण है। सर्वप्रथम आत्मा का प्रतिबिम्ब जिसे कि उपनिषत्-परिभाषा के अनुसार हम अक्षर कहेंगे, महान् पर पड़ता है। महदक्षर आत्मा है। इससे अक्षरविज्ञान पर आता है। विज्ञानद्वारा—वही अक्षर-प्रज्ञासंपरिष्वक्त प्रज्ञान पर आता है। प्रज्ञानद्वारा-प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर पर जाता है। यह है चित्त का क्रमिकअवतार। यहाँ पर ऋषि प्रज्ञानगत अक्षर-तत्त्व का स्वरूप परिचय करा रहे हैं। यहाँ ब्रह्म से प्रज्ञानगत अक्षर-तत्त्व अभिप्रेत है। यह प्रज्ञान ब्रह्म-स्वयं भोगभाव से शून्य है। इसकी वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, तीन कलाएँ ही भोग करती हैं। यह सर्वथा निष्कल है, निरंजन है। तीनों भागों में यही अंशरूप से प्रविष्ट है, अतः तीनों उसके प्रथम द्वितीय तृतीय पाद हैं। चौथा घनरूप वह स्वयं है। उसका आगे निरूपण करने वाले हैं। वैश्वानरावाच्छिन्न प्रज्ञान स्थूलभुक् है। तैजसावच्छिन्न उसका अंश प्रविवित्त भुक् है। प्राज्ञावच्छिन्न सर्वज्ञभाग आनन्दभुक् है। वह घन तीनों से पृथक् है—शुद्ध है—अक्षर रूप है। वही असली वस्तु है। इसी की महिमा से वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ तीनों ने सर्वत्र अपना साम्राज्य बना रक्खा है। प्राज्ञ के ऊपर प्रज्ञान ब्रह्म है- वही तुरीय है। उसी का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—न वह अन्तःप्रज्ञ है—न बहिःप्रज्ञ है—न उभयतःप्रज्ञ है—न प्रज्ञानघन है—न प्रज्ञ है—न अप्रज्ञ है—वह अदृष्ट है। अव्यवहार्य है। अग्राह्य है। अलक्षण है। अचिन्त्य है। अव्यपदेश्य है। एकात्मप्रत्ययसार है। प्रपञ्चोपशम है। शान्त है। ऐसे उसे, विद्वान् लोग तुरीयपद समझते हैं। वही आत्मा विज्ञेय है।

प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर ये तीनों सुषुप्ति स्वप्न और जाग्रत् के अधिष्ठाता नहीं है। अपितु—तीनों ही क्रमशः सुषुप्तस्थान, स्वप्नस्थान, जागरितस्थान (सुषुप्त्यवस्थादि में प्रतिष्ठित-तत्स्थानीय) हैं। अवस्थात्रय का अधिष्ठाता तो प्रज्ञान ही है। जाग्रदवस्था वह कहलाती है जब कि प्रज्ञान इन्द्रियों द्वारा बाहर के स्थूल विषयों से सम्बन्ध रखता है। बिना स्थूलजगत् के एवं वैश्वानर के प्रज्ञान की जाग्रदवस्था सर्वथा अनुपपन्न है। पदार्थ स्वयं वैश्वानररूप है। सजातीयता

के कारण पहिले इनका सम्बन्ध हमारे वैश्वानर से होता है तद् द्वारा प्रज्ञान उनका भोग करने में समर्थ होता है। सब विषयों को छोड़कर प्रज्ञान अन्तर्मुख बनता है तो स्थूल जगत् का सम्बन्ध छूट जाता है। ऐसे समय में प्रज्ञान स्थूल विषयों से प्रविविक्त होता है एवं प्रज्ञान पर आए हुए संस्कारप्रपञ्च भी प्रविविक्त होते हैं। इस समय इसे स्थूल वैश्वानर की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि स्थूल का भोग इस अवस्था में इसे नहीं करना पड़ता। प्रविविक्त विषय सूक्ष्म हैं। प्राणरूप हैं। उधर तैजस भी प्राणरूप है। सजातीयता के कारण-उस प्रविविक्त का सम्बन्ध तैजस से होता है। तैजसयुक्त प्रज्ञान ही प्रविविक्त का भोग करने में समर्थ होता है। अब यहाँ से भी हटकर प्रज्ञान जब महदक्षर में जाता है तो तैजस की भी निरपेक्षा होजाती है। उस समय–ज्ञानमय प्राज्ञभागमात्र सजातीयता के कारण प्रज्ञान में रहता है। इस अवस्था में प्राज्ञ प्रज्ञान का द्वेष जाता रहता है। प्रज्ञान में डूबा हुआ प्राज्ञ प्रज्ञानघन है। परन्तु प्राज्ञ प्रज्ञान में डूबता तभी है जब कि प्रज्ञान-महदक्षर में डूबकर—सुषुप्तिअवस्थामें जाता है। जबतक प्रज्ञान महदक्षर में नहीं जाता तबतक वह तैजस वैश्वानर से युक्त रहता है। ऐसी अवस्था में ज्ञानविजातीय अर्थक्रिया के मध्यपतित रहने से—ज्ञानमयप्राज्ञ का प्रज्ञानके साथ एकीभाव नहीं हो सकता। जब—अर्थक्रियारूप तैजस-वैश्वानर अलग हो जाते हैं तो प्राज्ञ स्वस्वरूपसे (शुद्धरूपसे) रह जाता है।

इस समय—'यथोदकं शुद्धे शुद्धं तादृगेव भवति' के अनुसार शुद्धज्ञानरूप प्राज्ञ तैजसादिशून्य अतएव शुद्धप्रज्ञानमें एकीभूत होता हुआ स्वयं भी प्रज्ञानघन बन जाता है। ऐसा होता है—सुषुप्ति में ही। अतएव प्रज्ञानघग एकीभूत प्राज्ञ को 'सुषुप्तिस्थान' बतलाया गया है। इस समय सिवाय ज्ञानके चित्के अन्य विजातीयवस्तु का अभाव रहता है। अतएव इस अवस्थावाले प्रज्ञानघन प्राज्ञको चेतोमुख कहा है। वैश्वानर तैजस प्राज्ञ ही भोक्तात्मा है। प्रज्ञान ब्रह्मसत्य का अवयव है। परन्तु यह भोग बिना प्रज्ञानमनके और इन्द्रियों के अनुपपन्न है। अतः—मन और इन्द्रियों का भी भोक्तात्मरूप देयसत्यमें अन्तर्भाव करलिया जाता है। इसी अभिप्रायसे—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'—यह कहा जाता है। वस्तुतः—प्रज्ञान स्वतंत्र है। परन्तु कहने के लिए प्रज्ञानही अवस्थात्रय में परिणत होकर—क्रमशः बहिःप्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ, और प्रज्ञानघन बनकर स्थूलभुक् प्रविविक्तभुक् और आनन्दभुक् होता है। वस्तुतः ये सारे धर्म्म भोक्तात्मरूप देव सत्यके हैं। प्राज्ञ तैजसगर्भित, अर्थप्रधान वैश्वानरभाग—स्थूलभुक् है। वैश्वानर प्राज्ञगर्भित, क्रियाप्रधान तैजस भाग प्रविविक्तभुक् है एवं वैश्वानर तैजसगर्भित ज्ञानप्रधान प्रज्ञानघन प्राज्ञ आनन्दभुक् है। तीनों उस प्रज्ञानब्रह्म—के तीन पाद

हैं। चौथास्वयं प्रज्ञानब्रह्म है, जोकि उपद्रष्टा है—विज्ञानद्रष्टा कहलाता है। प्रज्ञान उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्त्ता-महेश्वर है। प्रज्ञान विज्ञान अविनाभूत हैं। ये दोनों महदक्षराविनाभूत है। बस—ऐसी अवस्था में—विज्ञानसंपरिष्वक्त महदक्षरयुक्त प्रज्ञान को ही हम तुरीय कहेंगे। सातवां मन्त्र अक्षर को लक्ष्य बनाकर इसी तुरीय प्रज्ञानका अक्षरसे निरूपण करता है वर्णन है—प्रज्ञानका, परन्तु लक्ष्य है अक्षर पर॥

वैश्वानरावच्छिन्नप्राज्ञ—बहिःप्रज्ञ है। तैजसावच्छिन्नप्राज्ञ अन्तःप्रज्ञ है। ऐसी अवस्थामें उभयथावच्छिन्न होता हुआ प्राज्ञ—'उभयप्रज्ञ' कहलाने का अधिकारी हो जाता है। वही प्राज्ञ—शुद्धरूप में आकर प्रज्ञान में डूबता हुआ—प्रज्ञानघन हो जाता है। इस प्रकार प्राज्ञ अन्तःप्रज्ञ है। बहिःप्रज्ञ है। उभयप्रज्ञ है। प्रज्ञानघन है। इससे अलग प्रज्ञान आत्मा है। उसका भोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। न वह स्थूलभुक् है। न प्रविविक्तभुक् है। न आनन्दभुक् है। वैश्वानर से अलग है इसलिए वह बहिःप्रज्ञ नहीं है। तैजस से पृथक् है—इसलिए अन्तःप्रज्ञ नहीं है। दोनों से अलग है इसलिए उभयप्रज्ञ नहीं है। स्वयं प्रज्ञानरूप है। प्रज्ञान में प्रज्ञान नहीं रहता—अतएव वह अप्रज्ञान है। तात्पर्य्य यही है, प्रज्ञान स्वयं प्रज्ञानघन है। प्रज्ञानघन में प्रज्ञानघन क्या रहैगा—अतः वह प्रज्ञानघन नहीं है। प्राज्ञअंश है। वह—प्राज्ञ से अतिरिक्त है' इसलिए उसे हम प्राज्ञ नहीं कह सकते। परन्तु प्रज्ञानगत चैतन्यने ही चूंकि प्राज्ञको प्राज्ञ बना रक्खा है। प्राज्ञ में जो ज्ञ है यदि उसे हटालिया जाय तो उसकी प्राज्ञता ही न रहै। ऐसी अवस्था में हम उसे प्राज्ञसे अतिरिक्त भी नहीं मान सकते। श्रुतिके शब्दमें बड़ा चमत्कार है। प्राज्ञम्—न कहकर—'न अप्रज्ञम्' कहा है। वास्तव में वह प्राज्ञसे अतिरिक्त है, इसलिए तो उसके लिए—'प्रज्ञम्' कहा नहीं जा सकता। साथ ही में प्राज्ञ का प्राज्ञपना वही है। इस भाव को प्रकट करमे वाला यदि कोई वाक्य हो सकता है तो 'नाप्रज्ञम्' यही हो सकता है।

नान्तःप्रज्ञं, नबहिःप्रज्ञं, नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञम् = मन्त्र का यह पूर्वार्द्ध भाग प्रज्ञानका निरूपण करता है। प्रज्ञानमें—प्रज्ञान और अक्षर दो वस्तु हैं। अतएव ऋषि ने सातवें मन्त्रके—दो विभाग कर डाले है। पूर्वका छोटावाक्य—अक्षरापेक्षया लघुप्रज्ञान का निरूपण करता है। एवं—'अदृष्टम्'-इत्यादि उत्तर का महावाक्य—महदक्षर का निरूपण करता है।

प्रज्ञान के बाद क्रमशः-विज्ञान, महान्, अव्यक्त, आत्मक्षर, अक्षर, अव्यय—इतने भाग हैं। इनमें विज्ञानका तो—'सोऽयं विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मनासंपरिष्वक्तः'

के अनुसार—प्रज्ञान में ही अन्तर्भाव हो जाता है । विज्ञानके—अमृतमर्त्य दो भाग हैं । प्रज्ञानमें मर्त्यविज्ञान का अन्तर्भाव है । बाकीबचता है—अमृतविज्ञान । इसका महान् में अन्तर्भाव है । इस प्रकार—अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, अव्यक्त तथा—विज्ञानगर्भित अतएव त्रिगुणभावापन्न—महान् बचजाते हैं । उस अक्षर की व्याप्ति—महान् तक है । अतएव—'महद्ब्रह्मैकमक्षरम्—बहुब्रह्मैकमक्षरम्' यह कहा जाता है । यही कठका परार्ध्य भाग है । नीचे का अपरार्ध्य भाग है । परार्ध्यभाग अक्षरप्रधान होने से अमृत है । अवरार्ध्य भाग क्षरप्रधान होने से मर्त्य है । पूर्व का प्रपञ्च—अवरार्ध्य का निरूपण करता है । एवं 'अदृष्टं' इत्यादि उत्तर का प्रपञ्च—परार्ध्य अमृत भाग का—(अक्षरको प्रधान मानकर) निरूपण करता है—

**पर और अपर ब्रह्म का चित्रगत निरूपण:—**

| | अध्यात्मम् | अधिदैवतम् | | |
|---|---|---|---|---|
| परार्ध्यम्—परब्रह्म | अव्यय | अव्यय | —अमृतम् | "एतद्वै सत्यकाम ! परञ्चापरञ्च ब्रह्म—यदोङ्कारः" |
| | अक्षर | अक्षर | | |
| | आत्मक्षर | आत्मक्षर | | |
| | अव्यक्त | स्वयम्भू | —ब्रह्मसत्यम् | |
| | महान् | परमेष्ठी | | |
| | अमृतविज्ञान | अमृतसूर्य्य | | |
| अपरार्ध्यम्—अपरब्रह्म | मर्त्यविज्ञान | मर्त्यसूर्य्य | | |
| | प्रज्ञान | चन्द्रमा | | |
| | प्राज्ञ | सर्वज्ञ | —देवसत्यम् | |
| | तैजस | हिरण्यगर्भ | | |
| | वैश्वानर | वैश्वानर | | |
| | शरीर | पृथिवी | —प्रतिष्ठा | |

अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्—इतने विशेषण—परब्रह्म के अक्षर-भाग का निरूपण करते हैं । 'एकात्मप्रत्ययसारम्'

यह— अव्यय का निरूपण करता है। प्रपञ्चोपशमं—यह आत्मक्षर का निरूपण करता है। 'शान्तम्' यह 'अव्ययात्मा' का निरूपण करता है एवं--'शिवम्' यह चौथे महान् का निरूपण करता है। अद्वैतम्--सब ब्रह्मों का एकाक्षरदृष्टया अभेद बतलाता है। वह अक्षर अदृष्ट है, देखा नहीं जासकता। चक्षुषा-अग्राह्यम् ही अदृष्टम् है। मुण्डक ने जिस भाव के लिए 'अद्रेश्यम्' कहा है--उसी के लिए यहाँ 'अदृष्टम्' कहा है। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र मन इन पाँचों बाह्यकरणों का उपलक्षण चक्षु है। वह अक्षर बहिष्करणशून्य है। हमारी कोई भी बहिरिन्द्रिय--(ज्ञानेन्द्रिय--कर्म्मेन्द्रिय) वहाँ नहीं जा सकती। इन्द्रियों की दौड़ स्वप्नावस्था तक है। स्वप्न से परे सुषुप्ति है। सुषुप्ति से परे प्रज्ञान है। यहाँ प्रतिष्ठित तुरीय अक्षरपर--इन्द्रियाँ कैसे जा सकती हैं ? वह अग्राह्य है। अर्थात् मन-बुद्धि चित्त-अहंकार इन चारों अन्तःकरणों से शून्य है। मन प्रज्ञान है। बुद्धि विज्ञान है। चित्त सत्य है। अहं महान् है। अक्षर इनसे बाहर है। वह अगोत्र है-अर्थात् निःशब्द है—अनिर्वचनीय है। स्वयमपि अलक्षण है। अर्थात् स्वयं भी ज्ञान कर्म्मेन्द्रियविकल है। न वहाँ इन्द्रियाँ जाती हैं -न वह स्वयं इन्द्रियाँ रखता है मुण्डकोक्त--'अगोत्रम्' के स्थान पर यहाँ--'अव्यवहार्यम् है।

अव्यय नित्य है—विभु है-सर्वगत है-सुसूक्ष्म है-अतएव अचिन्त्य है और अव्यपदेश्य है। असीमभाव, अचिन्त्य और अव्यपदेश्य ही होता है। 'अविभक्तं-विभक्तेषु' के अनुसार महदादि सारे खण्डात्माओं में वह एकरूप से व्याप्त है।

स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-यही प्रपञ्च है। इनका उपादन आत्मक्षर है। इसी से पाँचों उत्पन्न होते हैं। इसी में लीन होते हैं, अतएव हम इस आत्मक्षर को प्रपञ्चोपशम कहने के लिए तय्यार हैं। मुण्डकोक्त 'भूतयोनिम्' के स्थान में यहाँ 'प्रपञ्चोपशमम्' कहा है।

अव्यक्त स्वयम्भू शान्त है। इसीलिए तो-'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः' में अव्यक्तात्मा के लिए—'तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' कहा है।

स्वयम्भू सत्य है। छःहों रजों या लोकों से अलग है। वे छःहों लोक चल हैं एवं अचल हैं। छओं का अधिष्ठाता—सत्य स्वयम्भू शान्त है।

महान् शिव है। रोदसी प्राण आग्नेय होने से जैसे रुद्र कहलाता है, एवमेव पारमेष्ठ्य-प्राण सोममय होने से साम्ब सदाशिव कहलाता है। पारमेष्ठ्य भाग ही महान् है, अतः हम इसे 'शिव' कहने के लिए तय्यार हैं। इस

महद्भाव के कारण शिवरूप महानात्मा को—'महादेव' कहा जाता है । इस महान् की व्याप्ति विज्ञान में है तथा प्रज्ञान में है । प्रज्ञानगत अक्षर की प्रतिष्ठा भी महत् सोम ही है एवं विज्ञानगत अक्षर की प्रतिष्ठा भी महत् सोम ही है । क्यों कि बिना महान् के--चित् प्रतिष्ठित नहीं हो सकता । सम्भव है—अव्यय—अक्षर-क्षर—अव्यक्त—महान् इतने भेद देख कर कोई अनेक आत्मा समझ बैठें—इसके लिए श्रुति को 'अद्वैतम्' कहना पड़ा है । एक ही तत्त्व का—अमृत रूप से इतने भावों में भान है । भान अनेक हैं । परन्तु सत्ता एक है, अतः—'एकात्म-प्रत्ययसारस्वरूप अद्वैत में कोई बाधा नहीं है ।

अव्ययाक्षरात्मक्षर शान्त शिव सबको मिला कर—एक आत्मा है । यह तुरीय है । श्रुतिगत 'तुरीय' शब्द में भी बडा रहस्य है । वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ तीनों प्रज्ञान ब्रह्म के तीन पाद हैं । चौथा स्वयं-प्रज्ञानाक्षर है । उसी पर प्रधान लक्ष्य है । इसलिए भी 'तुरीयम्' कहा है । एवं सृष्टिधाराक्रम में—अव्यय, अक्षर आत्मक्षर—शान्तगर्भित महान्-इस क्रम से महान् चौथा पड़ता है । महदक्षर इस क्रम में चौथा है—इसलिए भी अक्षर तुरीय है । वैश्वानर पृथिवी की वस्तु है । तैजस अन्तरिक्ष की वस्तु है । प्राज्ञ द्युलोक की वस्तु है । 'अस्ति वै चतुर्थोदेवलोक आपः' के अनुसार-चौथा पारमेष्ठ्य लोक है—यही महान् है । इस लोक-व्यवस्था के अनुसार भी महदक्षर चौथा पड़ता है । जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों से वह अक्षरावस्था चौथी है—इस व्यवस्थानुसार भी महदक्षर चौथा पड़ता है । मर्त्यभाग तीन अवयव वाला है । अमृताक्षर एक है । इस अमृतमर्त्यापेक्षया भी अमृताक्षर चौथा है । बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने—'तुरीयम्' कहा है । नीचे लिखी तालिकाओं से अब तक का सारा विषय स्पष्ट हो जाता है—

मुण्डक के अनुसार विशेषण १ अद्रेश्यम् माण्डूक्य अदृष्टम् के अनुसार ।

१ अद्रेश्यम्=चक्षुषा अग्राह्यम् (वाक् प्राण चक्षुः श्रोत्र मन अतीतम्= बहिष्करणशून्यम्) ।

२ अगोत्रम्=अव्यवहार्य्यम् · अनिर्वचनीयम् • भूतमात्राशून्यम् ।

३ अग्राह्यम्=अग्राह्यम्=(मन-बु० चित्त० अहंकारात्मकान्तःकरणशून्यम्) ।

४ अचक्षुःश्रोत्रम् अपाणिपादम् · अलक्षणम् (निर्धर्मकम्—ज्ञान कर्म्मेन्द्रियविकलम्—प्रज्ञाप्राणमात्राशून्यम्) ।

५ सूक्ष्मम् नित्यम् = अचिन्त्यम • नित्यत्व, विभुत्व, सर्वगतत्व, सुसूक्ष्मत्वादिमत्वेन अविज्ञेयं = मनसातीतम् ।

६ विभुम्=अव्यपदेश्यम् = अनिर्वचनीयम् ।

७ सर्वगतम् = एकात्मप्रत्ययसारम् = विभुधर्म्मेण खण्डात्मप्रपंचेषु—अविभक्त-रूपेण व्याप्तम् ।

८ भूतयोनिम् = प्रपञ्चोपशमम्—स्व० पर० सू० च० पृ० इत्येतेषां प्रभव प्रतिष्ठापरायणम् ।

९ शान्तम्=भूः भुवः, स्वः, महः जनः तपः इतिषड् रजांसि । तदतीतत्वात् शान्तम् ।

१० शिवम्=पारमेष्ठ्यसोमसम्बन्धेन शिवरूपम् ।

आत्माओं के अनुसार वर्गीकरण ।

| | | |
|---|---|---|
| १ अदृष्टम्<br>२ अग्राह्यम् | —इन्द्रियातीतम् | १<br>—'एतादृशमक्षरम्=<br>१=अक्षरात्मा । |
| ३ अव्यवहार्य्यम् | —अनिर्वचनीयम् | |
| ४ अलक्षणम् | —स्वयमपि इन्द्रिय विकलं निर्धर्मकम् | |
| ५ अचिन्त्यम्=अविज्ञेयम्<br>६ अव्यपदेश्यम्=अनिर्वचनीयम्<br>७ एकात्मप्रत्ययसारम्=व्यापकम् | | २<br>— 'एतादृशमव्ययम्'=<br>२—अव्ययात्मा |
| ८ प्रपञ्चोपशमम्=विश्वस्य प्रभवप्रतिष्ठपरायणम् | | ३<br>— एतादृशमात्मक्षरम्=<br>३—क्षरात्मा । |
| ९ शान्तम्=सत्यधर्मेण क्षोभरहितम् | | ४<br>—एतादृशमव्यक्तम्=शान्तात्मा । |
| १० शिवम्=सोमसम्बन्धेन जीवनमूलम् | | ५<br>—एतादृशमहदक्षरम=५—महानात्मा |

पूर्व के प्रपञ्च में-अव्यय अक्षर के क्रम में व्यत्यास है । अव्यय-अक्षर-क्षर-

शान्त–शिव यह क्रम है। परन्तु यहाँ ऋषि ने–अक्षर-अव्यय-क्षर-शान्त, शिव–यह क्रम रक्खा है। कारण इसका यही है कि इस सारे प्रपञ्च का मूल कारण अक्षर ही है। यदि अक्षर न होगा तो ज्ञानमय, अतएव अविकुर्वाण अव्यय भी कुछ नहीं कर सकता। अर्थमय विकुर्वाण क्षर भी कुछ नहीं कर सकता। सारा प्रपञ्च कुर्वाण अक्षर पर ही प्रतिष्ठित है। यह मुण्डकोपनिषत् में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। अपिच-उपनिषत्-जीवका निरूपण करता है। जीवका पराप्रकृतिरूप अक्षर से सम्बन्ध है। इसलिए भी–यहाँ अक्षर का ही प्रथम उल्लेख है। प्रकरण के प्रारम्भ में ही, हम कह आए हैं कि इस उपनिषत् का प्रधान ब्रह्म-प्रज्ञान ब्रह्म है। तद्गत–अक्षर ही इसका तुरीय भाग है। इसीलिए–पारमेष्ठ्य भाग के लिए 'महान्' न कह कर 'शिव कहा है। यदि महान् कहा जाता तो उसी का महान् होता। परन्तु यहाँ उस महदक्षर का ग्रहण अभीप्सित है जो कि विज्ञान में आता हुआ–प्रज्ञान में प्रतिष्ठित होता है। उसका ग्रहण शिव शब्द से हो सकता है। महान् भी शिव है। प्रज्ञान भी शिव है। विज्ञान भी शिव है। महान् शिव–महान् नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञान शिव विज्ञान से प्रसिद्ध है एवं प्रज्ञान शिव–शिव नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि तत्त्व का नाम रुद्र है। वह अग्नि चिन्मय सोम से मिल कर–शिव बन जाता है। अग्नि और सोम उसके दो शरीर हैं। अग्निप्रधानतया वही अक्षर तत्त्व–रुद्र बन जाता है। सोम-सम्बन्ध से वही तत्त्व बन जाता है। परमष्ठी में सोम है, अतएव वहाँ का अंगिराप्राण अक्षर युक्त हो कर शिव बन जाता है। पूर्व में हमने क्षर को प्रपञ्चोपशम कहा है। अव्यक्त को शान्त कहा है। महान् को शिव कहा है। अब इन तीनों को क्रमशः–महान्-विज्ञान-प्रज्ञान का वाचक समझिए। महदक्षर पर सृष्टि-क्रम समाप्त है। मैथुनीसृष्टि का प्रभव प्रतिष्ठा-परायण महदक्षर है, अतएव सृष्ट्यपेक्षया हम इसे प्रपञ्चोपशम कहेंगे। पारमेष्ठ्य अंगिराप्राण आग्नेय है। यह अग्नि सोमयुक्त होने से शिव है। परन्तु कैसा शिव ? प्रञ्चोपशम शिव। सारा प्रबन्ध इसी शिव में शान्त होता है। महान् के नीचे विज्ञान है। विज्ञान सूर्य्य है-आदित्य है। अग्नि है। इसमें भी निरन्तर सोमाहुति होती रहती है, अतएव सूर्य्य रूप विज्ञान के लिए–'सूर्य्यो हवा अग्निहोत्रम्' ये कह जाता है। सोम सम्बन्ध से आदित्यरूप विज्ञान भी शिव है। प्रपञ्चोपशम से भेद करने के लिए ऋषि ने इसके–'शान्तम्' कहा है। मैथुनीसृष्टि महदक्षर पर शम भाव को प्राप्त होती है। परन्तु रोदसी-ब्रह्माण्ड की प्रथम प्रतिष्ठा सूर्य्य ही है। हम सब की मृत्यु सूर्य्य है। जीवन भी यही है। संवत्सरादि कालरूप में परिणत हो कर यही सूर्य्य रूप को उत्पन्न करता है। यहीं सब शान्त हो जाते हैं। इसी काल पुरुष के लिए—

'कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः'–यह कहा जाता है । तीसरा है–प्रज्ञान शिव । इसके लिए ऋषि ने 'शिव' ही कहा है । विज्ञान शिव अपरामुक्ति का अधिष्ठाता है । महदक्षर शिव परामुक्ति का अधिष्ठाता है । प्रज्ञान शिव मुक्ति का साधक होते हुए भी जीवन का रक्षक है । जब तक प्रज्ञान है, तब तक प्राज्ञ तैजस-वैश्वानर रूप भोक्तात्मा है । तभी तक जीवन है । जीवन दशा में प्रज्ञान शिव की आराधना अधिक हितकारी है । क्यों कि विज्ञान महान् की अपेक्षा वह निकट भी पड़ता है एवं जीवन का भी कारण है । जीवनहेतुभूत होने से ही–यहाँ उसे शिव कहा है । शिव के बाद शान्त विज्ञान है । शान्त के बाद प्रपञ्चोपशम महदक्षर है । तीनों कहने को तीन हैं–वस्तुतः तीनों एक तत्त्व है । भेदबुद्धया उपासना करना बन्धन का कारण है । इसलिए आगे जा कर ऋषि को–'अद्वैतम्' कहना पड़ा है । प्रज्ञानोङ्कार की आराधना को प्रधान मानने वाले वैज्ञानिक ऋषि इस शिव को (प्रज्ञानाक्षर को) ही चतुर्थ मानते हैं । क्यों कि वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ–इन तीनों का तुरीय प्रज्ञान शिव ही हो सकता है । इसलिए उप-संहार में ऋषि ने 'शिव' को रक्खा है–एवं 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' से तुरीय का इसी के साथ सम्बन्ध माना है । यह प्रज्ञान शिव ललाट प्रदेश में रहता है । शिव विश्वपति की यह आवासभूमि–उपनिषदों में वाराणसी (काशी) नाम से प्रसिद्ध है । मस्तक सहस्रदल कमल है । इसके मध्य में–अपनी शक्ति के साथ शिव विराजमान है । प्रज्ञान इन्द्र रूप है । अग्निषोम, सम्बन्ध से यही त्रिनेत्र कहलाने लगते हैं । सोम चन्द्रमा है- यही प्राज्ञ है । अग्नि पार्थिव भाग है–वही वैश्वानर है । सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख तैजस का सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुख इसी वैश्वानर में अन्तर्भाव है । आदित्य भाग स्वयं प्रज्ञान है । वैश्वानर प्राज्ञ आदित्य तीनों क्रमशः–अग्नि-चन्द्र-सूर्य्य हैं । इन्हीं तीन नेत्रों से वह अध्यात्म अधिदैवत का द्रष्टा (उपद्रष्टा) बन रहा है । सोमभाग सौरतेज सम्बन्ध से–हेम वर्णन बन रहा है । वही सोम हैमवती उमा है । जिसका कि केनोपनिषत् में बडे विस्तार के साथ निरूपण कर दिया गया है । हैमवती उमा चिरशक्ति है । वही आदि माया है । यह पुरुष शिव के साथ नित्य प्रतिष्ठित है । उस शिव को प्राप्त करने के लिए इसी शक्ति का सहारा लेना आवश्यक है । शक्ति बने बिना–शिव प्राप्त करना नितान्त असम्भव है । मायी बने बिना महेश्वर की आराधना सर्वथा निष्फल है ।

१ महद्विज्ञानगर्भितप्रज्ञानांशंब्रह्म=तुरीयः—
२ प्राज्ञः=चेतोमुखः आनन्दभुक्—तृतीयः पादः
३ तैजसः=एकोनविंशतिमुखः सप्ताङ्गः प्रविविक्तभुक् द्वितीयः पादः
४ वैश्वानरः— ,, सप्ताङ्गः-स्थूलभुक् प्रथमः पादः

—अयमात्मा ब्रह्म= सोऽयमात्मा चतुष्पात्

स आत्मा-स विज्ञेयः ।

( ८ )

प्रज्ञानविशिष्ट अक्षर देवतारूप है—वह उपास्य है । क्यों कि 'उपासना' विशिष्ट की ही हो सकती है । प्रज्ञानोपहित शुद्ध अक्षर-असली तत्त्व है । वह केवल ध्यानयोग से ज्ञेयमात्र है—यह है परब्रह्म का प्रज्ञान द्वारा संक्षिप्त निरूपण । इस सगुणब्रह्माक्षर की उपासना कैसे की जाए ? बस, आगे के प्रकरण से एकमात्र इसी प्रश्न का उत्तर दिया जाता है । 'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति' के अनुसार शब्दब्रह्म की उपासना ही-उसे जानने का उपाय है । जैसी स्थिति–परब्रह्म की है-वैसी हो स्थिति शब्दब्रह्म की है । शब्दब्रह्म-ओंकार है । इसे साधन बनाओ–परब्रह्म को लक्ष्य बनाओ । इस उपासना का विस्तृत विवेचन--

'प्रणवोधनुः शरोह्यात्मा'–इत्यादि रूप से पूर्व के उपनिषत् में बडे विस्तार के साथ किया जा चुका है, अतः यहाँ इस विषय में अधिक न कह कर केवल शब्दार्थ मात्र बतला कर–इस प्रकरण को समाप्त करते हैं ।

आत्मा ही शब्दब्रह्म है । आत्मा ही परब्रह्म है । एक ही ब्रह्म के–शब्द और पर–दो विवर्त्त हैं । इन दोनों के स्वरूपज्ञान के लिए ऋषि ने दोनों के नाम भिन्न-भिन्न मान रक्खे हैं । शब्दब्रह्म भी आत्मा है । दोनों ही चतुष्पात् है । दोनों परमार्थतः (ज्ञानकाण्ड में) एक वस्तु है । दोनों का अभेद मानने से–उपासना हट जाती है । उपासना हेतुभाव से सम्बन्ध रखती है । अद्वैत में उपासना नहीं है । वहाँ केवल ज्ञानमात्र है, अतएव पूर्व के आत्मा के लिए (जो कि-शब्द पर भेद शून्य है-एकरूप है) 'शिवमद्वैतंचतुर्थं' मन्यन्ते-स आत्मा–सविज्ञेयः–यह कहा है । परन्तु जब उपासना पर लक्ष्य जाता है तो उसी पूर्वोक्त चतुष्पात्-आत्मब्रह्म के पर और शब्द दो भेद मानने पड़ते हैं । बस, यहाँ से–उपासनाप्रधान इन्हीं दोनों का निरूपण है । तद्द्वारा उपासना प्रकार, उपासना के फल का आदेश है ।

वही आत्मा–उपास्य कोटि में जाता हुआ–'अध्यक्षरम्' नाम से व्यवहृत होता है। अक्षर को लक्ष्य बना कर (अक्षरमधिकृत्य वर्ण्यमानः–उपास्यात्मा अध्यक्षरम्) उपास्य आत्मा–अक्षर नाम से प्रसिद्ध होता है एवं उपासनासाधनभूत शब्द प्रधान वही आत्मा 'ओंकार' नाम से प्रसिद्ध होता है। यह चूंकि मात्रा को लक्ष्य बना कर प्रवृत्त होता है, अतएव यह अधिमात्र है। इस प्रकार उपासना-काण्ड में उस एक ही के–अध्यक्षर, ओंकार अधिमात्रः दो भेद हो जाते हैं। अध्यक्षर–उपास्य है। अधिमात्र ओंकारसाधन है। अर्थात् परात्मा–उपनिषदों में 'अक्षर' नाम से व्यवहृत होता है। इसका उपनिषत् जब वर्णन करेगा–'अद्रेश्यम्' इत्यादिरूप से वर्णन करेगा। उसे अनुपास्य और केवल ज्ञेय बतलाएगा एवं शब्दात्मा उपनिषत् में–'ओम्' नाम से प्रसिद्ध है। इसका जब भी उपनिषत् वर्णन करेगा–'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इत्यादि रूप से वर्णन करेगा। इसे उपासना का साधक बतलाएगा। अक्षरात्मा वाच्य है। ओम् वाचक है, अतएव–'तस्य वाचकः 'प्रणवः' कहा जाता है। वाचक शब्द है–वही ओंकार है। यही शब्द ब्रह्म है। वाच्य अर्थ है। वही अक्षर है। यही परब्रह्म है। वाच्य अक्षरब्रह्म के चारों भाग–'पाद नाम से व्यवहृत होते हैं एवं वाचक शब्द ब्रह्म के चारों भाग–मात्राशब्द से व्यवहृत होते हैं। शब्द–ब्रह्म के चारों पाद–मात्रा हैं। अर्थ ब्रह्म की चारों मात्राएँ–पाद हैं। दोनों चूंकि परमार्थतः–अभिन्न है, अतः–जो ओम्–इस शब्द की मात्रा है–वही इसके पाद हैं। पाद–ही मात्रा है। व्यवहार के लिए-अक्षर-ओम्-की तरह पाद-मात्र-शब्द नियत हैं, इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'सोऽयमात्मा (पूर्वोक्तः-अद्वयः–शब्दपरभेदादभिन्न–आत्मा)–अध्यक्षरम्,–ओंकारोऽधिमात्रम्। पादाः, मात्राः'।

इनमें अक्षर के चारों पाद बतला दिए गए। अब बाकी बचता है–अधिमात्र ='ओम्'॥ इसकी तीन मात्रा इसके तीन पाद है। वे तीनों अ-उ-म–नाम से प्रसिद्ध हैं। कहने को भेद है–परमार्थतः अभेद हैं–इस बात को सूचित करने के लिए ऋषि–'मात्राश्च'–कह कर साथ ही में-'पादाः' बोल देते हैं। ओंकार की तीनों मात्राओं को विजातीय मत समझो–अभी तो अक्षर के जो तीन पाद हैं–वही अ-उ-म हैं। 'पर' ही 'शब्द' बना है–यही तात्पर्य है। इसी अभिप्राय से कहते है–

'मात्राश्च पादा-अकार उकार मकार इति'।

**सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥**

तीनों मात्राओं को क्रमशः–वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ नाम से प्रसिद्ध अक्षर के तीनों पादों से मिलाते जाइए। जागरित स्थान-सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख बहिःप्रज्ञ वैश्वानर-'अ' नाम से प्रसिद्ध पहली मात्रा है। वर्ण-सृष्टि का मूल अकार है। 'अकारो वैसर्वावाक्-सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' के अनुसार एक अकार ही सारा वाक्-प्रपञ्च है। अकार ही तालुस्थान में जाकर 'इ' बन जाता है। ओष्ठस्थान में जा कर 'उ' बन जाता है। दन्त मूर्द्धास्थान में जा कर 'ऋ' 'लृ' बन जाता है। स्पर्श से (स्थान करण के संयोग से) अ, क बन जाता है। इ, य बन जाता है। उ, व बन जाता है। महाप्राण से क, ख बन जाता है। यह निदर्शन मात्र है। केवल स्पर्श उष्मा के तारतम्य से अकार सारा वाक् बना है। 'अ' अक्षर का रूप है। पहली मात्रा है, अतएव–'अक्षराणामकारोऽस्मि' कहा जाता है। अ सारे वाक्-प्रपञ्च का मूल है। अक्षर में 'र' कोई वस्तु नहीं है। अ-क्ष-असली है, अतएव माला को 'अक्ष' कहा जाता है। अ से क्ष तक ही असली वर्णमाला है। र मध्य पतित है। अ-क्ष्-अ इस क्रम से उपक्रमोपसंहार में स्वर है। मध्य में व्यञ्जन है। भगवान् पाणिनि का अ-अ सूत्र इसी विद्या का प्रतिपादन करता है। सारा वाक्-प्रपञ्च, अ-उपक्रम है। अ-निधन है। 'अ' यह वाक् है। वाक् एक 'अ' अक्षर है, अतएव 'वागित्येकमक्षरम्' कहा जाता है। वाक् अग्नि है। यही आदि में है। अन्त में भी यही है। यह शब्दाग्निरूप वाक् उसी वैश्वानराग्नि से उद्बुद्ध है। शरीर-अग्नि वैश्वानर है। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' के अनुसार-वही अग्नि-वायु से धक्का खा कर उर-कण्ठ मूर्द्धा में जा कर– मुख में आता हुआ क-च-ट-त-प आदिरूप में परिणत होता है। जैसा कि निम्नलिखित शिक्षा-श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है:—

**आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।**
**मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन्॥**

यथार्थ है। जो मनुष्य आवश्यकता से अधिक बोलता है–वह थक जाता है। उसका सारा शरीर गरम हो जाता हैं। अग्नि ही शरीर का बल है। वह चूंकि शब्द-निर्माण में आवश्यकता से अधिक खर्च हो जाता है, अतएव थकान होती है। इस प्रकार अ-उपक्रमवाक्-प्रपञ्च की और वैश्वानर अग्नि की अभेदता भली भाँति सिद्ध हो जाती है। वैश्वानराग्नि उपक्रम में है। वही वागग्नि ब्रह्माग्निरूप से उपसंहार में है। जैसा कि पूर्व की तालिकाओं से स्पष्ट हो जाता है। उधर-अ-से वाक् प्रारम्भ होती है। यहीं पर समाप्त होती है। ऐसी अवस्था में अ को और वैश्वानर को एक वस्तु मानने के लिए तैयार हैं। अ वैश्वानर है। यह

पूर्वकथनानुसार जागरितस्थान है। वैश्वानरांशमात्र में अ समान है। सप्ता० एको० बहिष्प्रज्ञता वाक्-प्रपञ्च में प्रत्यक्षरूप से अनुपपन्न है, अतः ऋषि ने इन भावों को छोड़ दिया है। अ-रूप वैश्वानर शब्द का पहला वर्ण है–आदि है। 'आप्लृव्याप्तौ' धातुका पहला है, अतएव इस अ-रूप वैश्वानर को हम–आदिम भी कह सकते हैं। जिसने अ को पहचान लिया, वह वाक्-प्रपञ्च के सारे स्वरूप को पहचान गया। इसलिए ऋषि ने अ-की 'आप्लृव्याप्तौ' धातु से निष्पन्न आप्ति का अकार माना है। बस, जो आप्ति के आदिभूत इस-अ-मात्रा की वैश्वानररूप से उपासना करता है। अर्थात्-अ-को साधन मान कर अक्षर के प्रथमपादभूत–वैश्वानर की उपासना करता है–वह सारी पार्थिव कामनाओं को प्राप्त हो जाता है। एवं सारे प्राणिसमाज में यह आदि (मुख्य-पहला-अग्रणी) हो जाता है। 'अ के द्वारा वैश्वानर की उपासना करो' यही निष्कर्ष है। सारा पार्थिव ब्रह्माण्ड आप्तिरूप है। उसका पहला भाग वैश्वानर है। आप्ति का पहला अक्षर–'अ' है। इसी शब्दार्थ की अभिन्नता को लक्ष्य में रखकर–इस वैश्वानर को–'अ' कहा है॥ ६॥

**जागरित स्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥**

**स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीयामात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिंसमानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥**

स्वप्नस्थान-तैजस उकार है। यह द्वितीया मात्रा है। वैश्वानर अपान रूप है। प्राज्ञ प्राण रूप है। मध्य पतित–वायव्य तैजस-व्यान रूप है। वैश्वानर अर्थ प्रधान होने से क्रिया-शून्य है। प्राज्ञ ज्ञान प्रधान होने से क्रिया शून्य है। मध्य पतित सदा गतिधर्मा व्यान रूप तैजस ही–क्रिया शक्ति का अधिष्ठाता है। अर्थ का उत्कर्ष भी क्रियाधीन है। यदि वायु-संचार न हो तो–धातुरूप वैश्वानर स्वस्वरूप से कभी पुष्ट न हो। बिना क्रिया के अन्न का परिपाक भी न हो। तथा मन भी निर्बल है। मन के निर्बल रहने से–ज्ञान निर्बल रहे। ऐसी अवस्था में ज्ञान का उत्कर्ष भी इसी के द्वारा होता है। इसीलिए—

"न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥[1]
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते" ॥[2]

—इत्यादि रूप से मध्य पतित तैजसरूप व्यान को ही प्राणापानरूप वैश्वानर के उत्कर्ष का कारण बतलाया जाता है । तैजस उत्कर्ष का अधिष्ठाता है—इसीलिए वृक्ष बढ़ते हैं । बालक छोटे से बड़ा होता है । गतिरूप तैजस नहीं तो कुछ नहीं है । वैश्वानर स्वतन्त्र है । उधर प्राज्ञ स्वतन्त्र है । परन्तु मध्यपतित तैजस का उभय स्थान से सम्बन्ध है । वह दोनों का सञ्चालन करता है । बस, इन्हीं गुणों के कारण हम तैजस को-'उत्कर्ष' (रूप), 'उभय' (रूप) कहने के लिए तय्यार हैं । उत्कर्ष का उ-अथवा उभय का-उ उभय था । तैजस 'उ' कार है । तैजस को उ इसलिए कहते हैं कि वह उत्कर्षशाली है—उभयानुग्राहक है । जो आत्मजिज्ञासु—उत्कर्षशाली उभयानुग्राहकरूप अतएव—'उ' नाम से प्रसिद्ध इस तैजस की-ओम् की-उमात्रा को साधन बना कर उपासना करता है, वह विद्वान् दिन-दिन अपनी ज्ञान-संतति (ज्ञानधारा) बढ़ाता रहता है एवं जैसे तैजस-व्यान, प्राणापानरूप वैश्वानर प्राज्ञ का दोनों का अनुग्राहक होने से दोनों में समान है-एवमेव यह शत्रु-मित्र दोनों के लिए समान हो जाता है । वैश्वानर अर्थप्रधान है । प्राज्ञ ज्ञान प्रधान है । अर्थ आवरणरूप होने से तम है । ज्ञान प्रकाश है । तमः प्रकाश परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं । दोनों में घोर शत्रुता है । परन्तु तैजस का आश्रय दोनों लेते हैं । वही हालत इस उपासक की होती है । परस्पर में घोर शत्रुता रखने वाले मनुष्य भी इसकी शरण में आते हैं । यह सब के लिए तैजसवत् समान बन जाता है । सारा संसार इसका मित्र बन जाता है—यही निष्कर्ष है । ऐसे विद्वान् के वंश में कभी भी कोई भी मूर्ख नहीं होता । सब विद्वान् ही होते हैं । क्यों कि तैजसात्ममय (तत्प्रधान) शुक्र से सम्बन्ध रखने वाला सन्तान-सूत्र इसी वासना से युक्त रहता है अतः सात पीढ़ तक वही ब्रह्मोपासना-अविद्या की प्रतिबन्धिका बन जाती है । क्यों कि सन्तान-सूत्र-८४ पितरों के अवतार-क्रम से ७ वीं पीढ़ी में समाप्त हो जाता है । उकार को लक्ष्य बना कर अक्षर के तैजस पाद की उपासना करो—यही आदेश है ॥ १० ॥

---

१. कठ उप. २/२/५ ।  २. कठ उप. २/२/३ ।

**सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ।।११।।**

सुषुप्त स्थान–प्राज्ञ मकार है । यही तीसरी मात्रा है । अर्थ प्रधान वैश्वानर, क्रिया-प्रधान तैजस दोनों ही परिच्छिन्न हैं । परन्तु प्रज्ञान संपरिष्वक्त-अतएव प्रज्ञानघन ज्ञानमूर्ति प्राज्ञ अपरिच्छिन्न है । सारी क्रियाएँ–सारे अर्थ–ज्ञान समुद्र में लीन है । ज्ञान में हाथी है तो ज्ञान उतना बड़ा है । तिल है जो तदाकाराकारित है । विश्व के सामने आने पर विश्वाकाराकारित है । इस प्रकार अणु से अणुपदार्थ एवं महान् से महान् पदार्थ ज्ञान प्रज्ञान घनप्राज्ञ में आ कर तदाकाराकारित हो जाते हैं । सारे पदार्थ ज्ञान में आकर सीमित हो जाते हैं । संसार में ऐसा कोई भी अर्थ नहीं है–जिसकी सीमा (हदबन्दी) ज्ञान न कर देता हो-चाहे फिर वह पदार्थ कितना ही बड़ा क्यों न हो ? ज्ञान में आते ही पदार्थ सीमित हो जाते हैं, अतएव इस प्राज्ञ को हम विषयरूप वैश्वानर-क्रियारूप तैजस दोनों की-'मिति' कह सकते हैं । ज्ञानमयी प्रज्ञा-सब की मिति है । मापक यन्त्र है । मितिभावापन्न होने के कारण ही हम इसे–'म' कह सकते हैं । अ-उ-म तीनों में म् हल् है । ओम् का मकार हल् ही अपेक्षित है अतः–और कोई मादि-शब्द न रख कर-अर्थानुकूल-'मिति' शब्द रक्खा है । मिति में से-'म्' का पृथक्करण सुगमता से हो सकता है । प्राज्ञ मकार है–इसका अर्थ यही है कि यह मितिधर्म्मा है । सबकी मिति करने वाला है । पत्र लिखे बाद अन्त में 'मिति' की जाती है । मिति समाप्ति का सूचक है । भोक्तात्मा की मिति-(समाप्ति) प्रज्ञा है । इसलिए-यह मिति है । प्रचलित-मिति शब्द का यही वैदिक मितिशब्द शब्दमूल है । अथवा अपीति-सम्बन्ध से भी-इसे म कहा जा सकता है । 'ओम्' वैश्वानर का तैजस में लय होता है । तैजस का प्राज्ञ में लय होता है । उधर शब्द ब्रह्म में–अवैश्वानर है । उ तैजस है । दोनों का अव्यय-'म्' पर है । 'ओम्' का उच्चारण करने पर-अ-उ-म् में अपीत मिलते हैं । यही स्थिति परब्रह्म की है । वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ में अपीति है । इस सामान्यभाव के कारण अपीति रूप 'म' इसका नाम हो जाता है । जो विधान प्राज्ञ के इस मितिविज्ञान एवं अपीति विज्ञान को जानता हुआ–म को साधक मान कर उस प्राज्ञ ब्रह्म की उपासना करता है–वह सारे विश्व-वैभव को-अपने प्रज्ञान से नाप लेता हैं एवं सब में अपीति हो जाता है । सारा वैभव इसके अधिकार में आ जाता है । म को सामने रख कर प्राज्ञ की उपासना करो, यही निष्कर्ष है ।। ११ ।।

**अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२॥**

बाकी बचता है, अक्षरयुक्त प्रज्ञान। वह पूर्वोक्त तीनों मात्राओं का अखण्ड-अमात्र आधार है। उसे तुरीय कहा है। मात्रा नहीं कहा है। वह अव्यवहार्य है। प्रपञ्चोपशम शिव है–अद्वैत है–वही ओंकार है। विश्वास करो, यह शब्दब्रह्म रूप ओंकार उस-उस परब्रह्म रूप आत्मतत्त्व से पृथक् नहीं है। ओंम् अक्षरात्मा एक वस्तु है। जो इस आत्म-विज्ञान को समझ जाता है–अद्वैत को जान जाता है–वह अपने वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूप भोक्तात्मा के साथ–उसी अर्द्धमात्रारूप आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है। द्वन्द्वातीत होता हुआ–'न स पुनरावर्तते न सपुनरावर्त्तते का अधिकारी बन जाता है ॥ १२ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

———